संथारा, संलेषना : एक चिन्तन

—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी

जीवन और मरण

भारत के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन और मरण के संबंध में गंभीर अनुचिन्तन किया है। जीवन और मरण के संबंध में हजारों ग्रन्थ लिखे गये हैं।[1] जीवन सभी को प्रिय है और मरण सभी को अप्रिय है।

"जब कोई भी व्यक्ति जन्म ग्रहण करता है तब चारों ओर प्रसन्नता का सुहावना वातावरण फैल जाता है। हृदय का अपार आनंद विविध वाद्यों के द्वारा मुखरित होने लगता है। जब भी उसका वार्षिक जन्म दिन आता है तब वह अपने सामर्थ्य के अनुसार समारोह मनाकर हृदय का उल्लास अभिव्यक्त करता है। जीवन को आनंद के सुमधुर क्षणों में व्यतीत करने के लिए गुरुजनों से वह आशीर्वचन प्राप्त करना चाहता है। वैदिक ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है[2] कि मैं सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीऊँ। मेरे तन में किसी भी प्रकार की व्याधि उत्पन्न न हो। मेरे मन में संकल्प-विकल्प न हों। मैं सौ वर्षों तक अच्छी तरह से देखता रहूँ, सुनता रहूँ, सूँघता रहूँ, मेरे पैरों में मेरी भुजाओं में अपार बल रहे जिससे मैं शान्ति के साथ अपना जीवन यापन कर सकूँ।"

मानव में ही नहीं, प्रत्येक प्राणी में जिजीविषा है। जिजीविषा की भव्य भावना से उत्प्रेरित होकर ही प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक मानव ने अनुसंधान किए हैं। उसने ग्राम, नगर, भव्य भवनों का निर्माण किया। विविध प्रकार के खाद्य पदार्थ, पेय पदार्थ, औषधियां, रसायनें, इंजेक्शन, शल्य क्रियाएं आदि निर्माण की। मनोरंजन के लिए प्राकृतिक सौंदर्य सुषमा के केन्द्र संस्थापित किये। उद्यान, कला केन्द्र, साहित्य, संगीत, नाटक, चलचित्र, टेलीविजन, टेलीफोन, रेडियो, ट्रेन-प्लेन, पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले उपग्रह आदि का निर्माण किया। अब वह चन्द्र लोक आदि ग्रहों में रहने के रंगीन स्वप्न देख रहा है।

पर यह एक परखा हुआ सत्य तथ्य है कि जीवन के साथ मृत्यु का चोली-दामन का संबंध है। जीवन के अगल-बगल चारों ओर मृत्यु का साम्राज्य है। मृत्यु का अखण्ड साम्राज्य होने पर भी मानव उसे भुलाने का प्रयास करता रहा है। वह सोचता है कि मैं कभी नहीं मरूँगा किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पुष्प खिलता है, महकता है, अपनी मधुर सौरभ से जन-जन के मन को मुग्ध करता है वह पुष्प एक दिन मुरझा जाता है। जो फल वृक्ष की टहनी पर लगता है, अपने सुन्दर रंग रूप से जन मानस को आकर्षित करता है, वह फल भी टहनी पर रहता नहीं, पकने पर नीचे गिर पड़ता है। सहस्ररश्मि सूर्य जब उदित होता है तो चारों ओर दिव्य आलोक जगमगाने लगता है, पर सन्ध्या के समय उस सूर्य को भी अस्त होना पड़ता है।

जीवन के पश्चात् मृत्यु निश्चित है। मृत्यु जब आती है तब अपनी गंभीर गर्जना से जंगल को कंपाने वाला वनराज भी कांप जाता है। मदोन्मत्त गजराज भी बलि के बकरे की तरह करुण स्वर में चीत्कार करने लगता है। अनन्त सागर में कमनीय क्रीड़ा करने वाली विराटकाय व्हेल मछली भी छटपटाने लगती है। यहाँ तक कि मौत के वारन्ट से पशु-पक्षी और मानव ही नहीं स्वर्ग में रहने वाले देव-देवियां व इन्द्र और इन्द्राणियाँ भी पके पान की तरह कांपने लगते हैं। जैसे ओलों की तेज वृष्टि से अंगूरों की लहलहाती खेती कुछ क्षणों में नष्ट हो जाती है वैसे ही मृत्यु जीवन के आनंद को मिट्टी में मिला देती है।

गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि ने कहा—जो जन्म लेता है वह अवश्य ही मरता है—"जातस्य हि मरणं ध्रुवम्"। तन बल, जन बल, धन बल और सत्ता बल के आधार से कोई चाहे कि मैं मृत्यु से बच जाऊँ यह कभी भी संभव नहीं है। आयु कर्म समाप्त होने पर एक क्षण भी जीवित रहना असंभव है। काल (आयु) समाप्त होने पर काल (मृत्यु) अवश्य आयेगा। बीच कुंए में जब रस्सी टूट गई हो, उस समय कौन घड़े को थाम सकता है?[3]

मृत्यु का भय सबसे बड़ा

जैन साहित्य में भय के सात प्रकार बताये हैं। उन सभी में मृत्यु का भय सबसे बड़ा है। मृत्यु के समान अन्य कोई भय नहीं है।[4]

एक बादशाह बहुत मोटा ताजा था। उसने अपना मोटापा कम करने के लिए उस युग के महान् हकीम लुकमान से पूछा—"मैं किस प्रकार दुबला हो सकता हूँ?

लुकमान ने बादशाह से कहा—आप भोजन पर नियंत्रण करें, व्यायाम करें और दो-चार मील घूमा करें।

बादशाह ने कहा—जो भी तुमने उपाय बताये हैं, मैं उनमें से एक भी करने में समर्थ नहीं हूँ। न मैं भोजन छोड़ सकता हूँ, न व्यायाम कर सकता हूँ और न घूम ही सकता हूँ।

लुकमान कुछ क्षणों तक चिन्तन करते रहे, फिर उन्होंने कहा—बादशाह प्रवर। आपके शारीरिक लक्षण बता रहे हैं कि आप एक माह की अवधि के अन्दर परलोक चले जायेंगे।

यह सुनते ही बादशाह ने कहा—क्या तुम्हारा कथन सत्य है?

लुकमान ने स्वीकृति सूचक सिर हिला दिया।

एक माह के पश्चात् जब लुकमान बादशाह के पास पहुँचा तो उसका सारा शरीर कृश हो चुका हो चुका था। बादशाह ने लुकमान से पूछा—अब मैं कितने घण्टों का मेहमान हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लुकमान ने कहा–अब आप नहीं मरेंगे।

बादशाह ने साश्चर्य पूछा–यह कैसे?

लुकमान ने कहा–आपने कहा था कि मुझे दुबला बनना है। देखिए, आप आप दुबले बन गये हैं। मृत्यु के भय ने ही आपको कृश बना दिया है।

भगवान महावीर ने प्राणियों की मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है–"प्राणिवधरूप असाता कष्ट सभी प्राणियों के लिए महाभय रूप है।"[५]

मृत्यु कला

भारतीय मूर्धन्य चिन्तकों ने जीवन को एक कला माना है। जो साधक जीवन और मरण इन दोनों कलाओं में पारंगत है, वही अमर कलाकार है। भारतीय संस्कृति का आघोष है कि जीवन और मरण का खेल अनन्त काल से चल रहा है। तुम खिलाड़ी बनकर खेल रहे हो। जीवन के खेल को कलात्मक ढंग से खेलते हो तो मरने के खेल को भी ठाट से खेलो। न जीवन से झिझको, न मरण से डरो। जिस प्रकार चालक को मोटर गाड़ी चलाना सीखना आवश्यक है, उसी तरह उसे रोकना सीखना भी आवश्यक है। केवल उसे गाड़ी चलाना आये, रोकना नहीं आये, उस चालक की स्थिति गंभीर हो जाएगी। इसी तरह जीवन कला के साथ मृत्यु-कला भी बहुत आवश्यक है। जिस साधन ने मृत्यु कला का सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया है वह हंसते, मुस्कराते, शान्ति के साथ प्राणों का परित्याग करेगा। मृत्यु के समय उसके मन में किंचित् मात्र भी उद्वेग नहीं होगा। वह जानता है ताड़ का फल वृन्त से टूटकर नीचे गिर जाता है वैसे ही आयुष्य क्षीण होने पर प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।[६] मृत्यु का आगमन निश्चित है।[७] हम चाहें कितना भी प्रयत्न करें उससे बच नहीं सकते। काल एक ऐसा तन्तुवाय है जो हमारे जीवन के ताने के साथ ही मरण का बाना भी बुनता जाता है। यह बुनाई शनैः-शनैः आगे बढ़ती है। जैसे तन्तुवाय दस बीस गज का पट बना लेने के पश्चात् ताना बाना काटकर वस्त्र को पूर्ण करता है और उस वस्त्र को समेटता है। जीवन का ताना बाना भी इसी प्रकार चलता है। कालरूपी जुलाहा प्रस्तुत पट को बुनता जाता है। पर एक स्थिति ऐसी आती है जब वह वस्त्र (थान) को समेटता है। वस्त्र का समेटना ही एक प्रकार मृत्यु है। जिस प्रकार रात्रि और दिन का चक्र है वैसे ही मृत्यु और जन्म का चक्र है।

एक वीर योद्धा अपनी सुरक्षा के सभी साधन तथा शस्त्रास्त्रों को लेकर युद्ध के मैदान में जाता है, वह युद्ध के मैदान में भयभीत नहीं होता, उसके अन्तर्मानस में अपार प्रसन्नता होती है, क्योंकि वह युद्ध की सामग्री से सन्नद्ध है।

मृत्यु महोत्सव

एक यात्री है। यदि उसके पास पाथेय है तो उसके मन में एक प्रकार की निश्चिन्तता होती है। यदि उसके पास यथेष्ट अन्न और धन हो तो वह कहीं भी चला जाय उसे कोई कष्ट नहीं होता। इसी तरह जिस साधक ने जीवन कला के साथ मृत्युकला भी सीख ली है, उस साधक के मन में मृत्यु से भय नहीं होता। उसकी हृत्तन्त्री के तार झनझनाते हैं–मैंने सद्‌गति का मार्ग ग्रहण किया है। मैंने जीवन में धर्म की आराधना की है, संयम की साधना की है। अब मुझे मृत्यु से भय नहीं है।[८] मेरे लिए मृत्यु विषाद का नहीं, हर्ष का कारण है। वह तो महोत्सव की तरह है।[९]

जीवन और मृत्यु एक-दूसरे के पूरक

मृत्यु से भयभीत होने का कारण यह है कि अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान जीवन पर तो केन्द्रित है, पर वे मृत्यु के संबंध में कभी सोचना भी नहीं चाहते। उनका प्रबल पुरुषार्थ जीने के लिए ही होता है। उन्होंने जीवन पट को विस्तार से फैला रखा है। किन्तु उस पट को समेटने की कला उन्हें नहीं आती। वे जाग कर कार्य तो करना चाहते हैं, पर उन्हें पता नहीं केवल जागना ही पर्याप्त नहीं है, विश्रान्ति के लिए सोना भी आवश्यक है। जिस उत्साह के साथ जागना आवश्यक है, उसी उत्साह के साथ विश्रान्ति और शयन आवश्यक है जिस प्रकार जागरण और शयन एक-दूसरे के पूरक हैं वैसे ही जीवन और मृत्यु भी।

मरण शुद्धि

महाभारत के वीर योद्धा कर्ण ने अश्वत्थामा को कहा था कि तू मुझे सूतपुत्र कहता है। पर चाहे जो कुछ भी हो मैं अपने पुरुषार्थ से तुझे बता दूँगा कि मैं कौन हूँ। मेरा पुरुषार्थ तुम देखो।

प्रस्तुत कथन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपने आपको बनाता है। जिस साधक ने जीवन कला के रहस्य को समझ लिया है, वह मृत्युकला के रहस्य को भी समझ लेता है। जिसने वर्तमान को सुधार लिया है, उसका भविष्य अपने आप ही सुधर जाता है। आत्म विशुद्धि के मार्ग के पथिक के लिए जीवन शुद्धि का जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्व मरण शुद्धि का है।

पंडित आशाधर जी ने कहा–जिस महापुरुष ने संसार परम्परा को विनष्ट करने वाले समाधिमरण अर्थात् मृत्यु कला में पूर्ण योग्यता प्राप्त की है उसने धर्म रूपी महान् निधि को प्राप्त कर लिया है। वह मुक्ति पथ का अमर पथिक है। उसका अभियान आगे बढ़ने के लिए है। वह पड़ाव को घर बनाकर बैठना पसन्द नहीं करता है किन्तु प्रसन्न मन से अगले पड़ाव की तैयारी करता है, यही मृत्युकला है।

मरण के विविध प्रकार

जो व्यक्ति जीवन कला से अनभिज्ञ है वह मृत्यु कला से भी अनभिज्ञ है। सामान्य व्यक्ति मृत्यु को तो वरण करता है, पर किस प्रकार मृत्यु को वरण करना चाहिए, उसका विवेक उसमें नहीं होता। जैन आगम व आगमेतर साहित्य में मरण के संबंध में विस्तार से विवेचन किया गया है। विश्व के जितने भी जीव हैं, उन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवों में मरण को दो भागों में विभक्त किया है (१) बालमरण और (२) पण्डितमरण।

भगवती सूत्र में[१०] बालमरण के बारह प्रकार बतलाये हैं और पंडित मरण के दो प्रकार बताये हैं। इस प्रकार मरण के कुल १४ प्रकार हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं-

बालमरण

(१) वलय (२) वसट्ट (३) अन्तोसल्ल (४) तब्भव (५) गिरिपडण (६) तरुपडण (७) जलप्पवेस (८) जलणप्पवेस (९) विषभक्खण (१०) सत्थोवाडण (११) बेहाणस (१२) गिद्धपिट्ठ।

पंडितमरण

(१) पावोवगमण (२) भत्तपच्चक्खाण।

समवायांग सूत्र में[११] और उत्तराध्ययन निर्युक्ति में[१२] तथा दिगम्बर ग्रन्थ मूलाराधना[१३] में मरण के १७ भेद इस प्रकार हैं-

(१) आवीचिरमरण (२) अवधिमरण (३) आत्यंतिकमरण (४) वलायमरण (५) वशार्तमरण (६) अन्तःशल्यमरण (७) तद्भवमरण (८) बालमरण (९) पंडितमरण (१०) बालपण्डित-मरण (११) छद्मस्थमरण (१२) केवलीमरण (१३) वैहायसमरण (१४) गृद्धपृष्ठमरण (१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण (१६) इंगिनीमरण (१७) पादपोपगमनमरण।

मरण के इन सत्रह प्रकारों में "उत्तराध्ययननिर्युक्ति" और "मूलाराधना" की विजयोदयावृत्ति में नाम और क्रम में कुछ अन्तर है। इन सत्रह प्रकार के मरण के संबंध में उत्तराध्ययन- निर्युक्ति और विजयोदयावृत्ति में अनेक भेद प्रभेदों का निरूपण है। हम यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही इन १७ प्रकार के मरण के अर्थ का प्रतिपादन करेंगे।

१. आवीचिमरण

आयु कर्म के दलिकों की विच्युत्ति अथवा वुच्छित्ति को आवीचिमरण कहा है। जैसे अंजलि में लिया हुआ पानी प्रतिपल प्रतिक्षण घटता रहता है, इसी प्रकार प्रतिक्षण आयु भी कम होता जाता है। यहाँ वीचि का अर्थ समुद्र की लहर है। समुद्र में प्रतिपल प्रतिक्षण एक लहर उठती है और उसके पीछे ही दूसरी और तीसरी लहर उठती रहती है। असंख्य लहरों का नर्तन समुद्र के विराट् वक्षस्थल पर होता रहता है। समुद्र की लहर की भांति मृत्यु की लहर भी प्रतिक्षण आती रहती है। एक क्षण की समाप्ति जीवन के क्षण की समाप्ति है। नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव[१४] ने आवीचिमरण की व्याख्या करते हुए लिखा है-प्रत्येक समय अनुभूत होने वाले आयुकर्म के पूर्व-पूर्व दलिकों को भोगकर नित नूतन दलिकों का उदय, फिर उनका भोग, इस प्रकार प्रतिक्षण दलिकों का क्षय होना आवीचि है।

आचार्य अकलंक ने[१५] आवीचिरमरण को नित्य मरण कहा है। उन्होंने मरण के दो प्रकार बताये हैं-नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो क्षय हो रहा है, वह नित्य मरण है और प्राप्त शरीर का पूर्ण रूप से छूट जाना अथवा जीव का उस शरीर को छोड़ देना तद्भवमरण है। सामान्य मानव जिसे आयु वृद्धि कहता है, वह स्वतः आयु का ह्रास है। हमारा प्रत्येक कदम मृत्यु की ओर ही बढ़ रहा है।

२. अवधिमरण[१६]

जिस मरण में जीव एक बार मरण करता है उसी गति में दूसरी बार मरण करना अवधिमरण है।

३. आत्यंतिकमरण[१७]

वर्तमान आयु कर्म के पुद्गलों का अनुभव कर मरण प्राप्त होता है, पुनः उस भव में वह जीव उत्पन्न न हो तो वह मरण आत्यतिंक मरण है।

४. बलायमरण[१८]

जो संयमी संयम पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त करता है वह बलन मरण है या भूख से छटपटाते हुए मृत्यु को प्राप्त करना भी बलाय मरण है।

५. वशार्तमरण[१९]

दीप शिखा में शलभ की भाँति जो जीव इन्द्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनका मरण वशार्तमरण है। इस मरण में आर्त और रौद्र ध्यान की प्रधानता रहती है।

६. अन्तःशल्यमरण[२०]

शरीर में शस्त्र आदि शल्य रहने पर मृत्यु होना वह द्रव्य अन्तः शल्य मरण है। लज्जा, अभिमान प्रभृति कारणों से अतिचारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति में मरना अन्तःशल्यमरण है।

७. तद्भवमरण[२१]

वर्तमान भव में मृत्यु का वरण करना, तद्भवमरण है।

८. बालमरण[२२]

विश्व में आसक्त, अज्ञानांधकार से आच्छादित, ऋद्धि व रसों में गृद्ध जीवों का मरण, बालमरण कहलाता है।

९. पण्डितमरण[२३]

संयतियों का मरण पंडितमरण है। सम्यक् श्रद्धा, चारित्र एवं विवेकपूर्वक मरण, पण्डितमरण है।

१०. बालपंडितमरण[२४]

संयतासंयत मरण बालपंडितमरण है।

११. छद्मस्थमरण[२५]

मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी को छद्मस्थ कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का मरण, छद्मस्थमरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. केवलीमरण

केवलज्ञानी का मरण केवलीमरण है।

१३. वैहायस मरण[२६]

वृक्ष की शाखा से लटकने, पर्वत से गिरने, झंपा लेने, प्रभृति कारणों से होने वाला मरण वैहायसमरण है।

१४. गृद्धपृष्ठमरण[२७]

हाथी आदि के कलेवर में प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोंचकर मार डालते हैं। उस स्थिति में जो मरण होता है, वह गृद्धपृष्ठमरण है।

१५. भक्तप्रत्याख्यानमरण[२८]

यावज्जीवन के लिए त्रिविध और चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है।

मूलाराधना में इसका नाम "भक्त पयिण्णा" है और विजयोदया में "भक्तप्रतिज्ञा" है।

१६. इंगिणीमरण[२९]

प्रतिनियत स्थान पर अनशनपूर्वक मरण को इंगिणीमरण कहा है। इस मरण में साधक अपनी शुश्रूषा स्वयं कर सकता है पर दूसरे श्रमणों से सेवा ग्रहण न करे, उसे भी इंगिणीमरण कहा है। इस मरण में चतुर्विध आहार का परित्याग आवश्यक होता है।

१७. पादपोपगमन मरण[३०]

वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था में चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक जो मरण होता है। वह पादपोपगमन मरण है। पादपोपगमन को ही दिगम्बर ग्रन्थों में "प्रायोपगमन"[३१] कहा है। जो अपनी परिचर्या स्वयं न करे और न दूसरों से बरवावे ऐसे संन्यास मरण को प्रायोपगमन अथवा प्रायोपज्ञमरण कहते हैं।

पादपोपगमन[३२] अपने पैरों से चलकर योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है, उसे पादपोपगमन मरण कहा गया है। प्रस्तुत मरण को चाहने वाला श्रमण अपने शरीर की परियर्या न स्वयं करता है और न दूसरों से ही करवाता है। प्रस्तुत मरण के लिए "प्रायोज्ञ"[३३] अथवा "पाउग्गमण" पाठ भी प्राप्त होता है। भव के अन्त करने योग्य संहनन और संस्थान को प्रायोज्ञ कहा है। विशिष्ट संहनन और संस्थान वाले ही इस मरण को वरण करते हैं।

भगवती सत्र में[३४] पादपोपगमन के निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद बताये हैं। निर्हारी उपाश्रय में मृत्यु को वरण करने वाले श्रमण के शरीर को उपाश्रय से बाहर निकाला जाता है। इसलिए उस मरण को निर्हारी कहते हैं। अनिर्हारी अरण्य में अपने शरीर का परित्याग करने वाले श्रमण के शरीर को बाहर ले जाना नहीं पड़ता, इसलिए उसे अनिर्हारी मरण कहा गहा गया है।

प्रायोपगमन अनशन करने वाला साधक अपने शरीर को इतना कृश कर लेता है कि उसके मलमूत्र आदि होते ही नहीं।[३५] वह अनशन करते समय जहाँ अपने शरीर को टिका देता है वहीं पर वह स्थिर भाव से स्थित हो जाता है। इस तरह वह निष्प्रतिकर्म होता है। वह अचल होता है, अतः अनिर्हार होता है। यदि कोई अन्य व्यक्ति उसे उठाकर दूसरे स्थान पर रख देता है तो भी स्वयंकृत चालन की अपेक्षा वह निर्हारी ही रहता है।[३६]

संविचारी और अविचारी, निर्हारी और अनिर्हारी ये शब्द श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में व्यवहृत हुए हैं किन्तु दोनों ही परम्पराओं में इनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। जैसे श्वेताम्बर में सविचार का अर्थ गमनागमन सहित है[३७] तो दिगम्बर में अर्हलिंग आदि विकल्प सहित है[३८] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अविचार[३९] का अर्थ गमनागमन रहित है तो दिगम्बर के अनुसार[४०] अर्हलिंग आदि विकार रहित है। श्वेताम्बर में निर्हारी[४१] का अर्थ है—उपाश्रय के एक स्थान में जिसमें मृत्यु के पश्चात् शरीर को निर्हरण किया जाये और दिगम्बर में स्वगण का त्याग कर पर गण में जा सके वह निर्हारी है। श्वेताम्बर में अनिर्हारी[४२] का अर्थ है गिरि गुफा आदि में जिसमें मृत्यु के पश्चात् निर्हरण करना आवश्यक हो, और दिगम्बर में[४३] स्वगण का त्यागकर पर गण में न जा सके वह।

आचार्य शिवकोटि ने प्रायोपगमन के वर्णन में, अनिर्हारी और निर्हारी का अर्थ अचल और चल भी किया है।[४४]

भगवती सूत्र में इंगिणी और भक्तप्रत्याख्यान को एक मानकर उनकी पृथक व्याख्या की है।[४५] किन्तु मूलाराधना में[४६] भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिणी और पादपोपगमन—इन तीनों को पंडितमरण का भेद माना है।

मरण के जो सत्रह प्रहार बताये हैं उनमें आवीचिरमण प्रतिपल प्रतिक्षण होता है। वह सिद्धों के अतिरिक्त सभी संसारी प्राणियों में होता है। शेष मरण संसारी जीवों में संभव हो सकते हैं।

मरण के दो प्रकार

उत्तराध्ययन सूत्र में मरण दो प्रकार के बताये हैं—अकामरण और सकामरण।[४७] टीकाकार ने अकाममरण का अर्थ विवेक रहित मरण किया है और सकाममरण को चारित्र और विवेकयुक्त मरण कहा है। अकाममरण पुनः-पुनः होता है।[४८] किन्तु सकाममरण जीवन में एक बार होता है। पंडितमरण एक बार होता है, इसका तात्पर्य है कि साधक कर्म क्षय कर मृत्यु को ऐसे वरण करता है जिससे पुनः मृत्यु प्राप्त न हो। "मरण विभक्ति" में कहा है—तुम ऐसा मरण मरो जिससे मुक्त बन जाओ।[४९]

जिस मरण में विषय वासना की प्रबलता हो, कषाय की आग धधक कर सुलग रही हो कि विवेक की ज्योति लुप्त हो चुकी हो, हीन भावनाएं पनप रही हों, वह बालमरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकाममरण के पंडितमरणं और बालपंडितमरणं-ये दो भेद किये हैं।[५०] पंडितमरण और बालपंडितमरण-इन दोनों में मुख्य भेद पात्र का है। विषयविरक्त संयमी जीवों का मरण पंडितमरण है और श्रावक का मरण बालपंडितमरण है। बालपंडितमरण का भी अन्तर्भाव पंडितमरण के अन्तर्गत ही किया गया है क्योंकि दोनों प्रकार ही के मरण में साधक समाधिपूर्वक प्राणों का परित्याग करता है।

स्थानांग में[५१] प्रशस्त मरण के पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान ये दो मरण बताये हैं। भगवती में[५२] भी आर्य स्कन्धक के प्रसंग में पंडितमरण के दो प्रकार बताये हैं। उत्तराध्ययन की प्राकृत टीका में[५३] पंडितमरण के तीन प्रकार और पांच भेद बताये हैं-भक्तपरिज्ञामरण, इंगिणीमरण और पादपोपगमनमरण, छद्मस्थ-मरण और केवलीमरण।

भक्तप्रत्याख्यान और इंगिणीमरण में यह अन्तर है कि भक्तप्रत्याख्यान में साधक स्वयं अपनी शुश्रूषा करता है और दूसरों से भी करवाता है। वह त्रिविध आहार का भी त्याग करता है और चतुर्विध आहार का भी त्याग करता है। अपनी इच्छा से जहाँ भी जाना चाहे जा सकता है। किन्तु इंगिणीमरण में चतुर्विध आहार का त्याग होता है, वह नियत प्रदेश में ही इधर उधर जा सकता है, उसके बाहर नहीं जा सकता। वह दूसरों से शुश्रूषा भी नहीं करवा सकता है।

शान्त्याचार्य ने[५४] निर्हारी और अनिर्हारी ये दो भेद पादपोपगमन के बताये हैं, किन्तु स्थानांग में[५५] भक्तप्रत्याख्यान के भी दो भेद किये हैं।

आचार्य शिवकोटि[५६] ने भक्तप्रत्याख्यान के सविचार और अविचार दो भेद माने हैं। जिस श्रमण के मन में उत्साह है, तन में बल है, उस श्रमण के भक्तप्रत्याख्यान को सविचार[५७] कहा जाता है। आचार्य ने इस संबंध में चालीस (४०) प्रकरणों के द्वारा विस्तार से विश्लेषण किया है। मृत्यु की आकस्मिक संभावना होने पर जो साधक भक्तप्रत्याख्यान करता है, वह अविचार भक्त प्रत्याख्यान[५८] है। अविचार भक्त प्रत्याख्यान के (१) निरुद्ध (२) निरुद्धतर और (३) परम् निरुद्ध ये तीन प्रकार हैं।

निरुद्ध

जिस श्रमण के शरीर में व्याधि हो और वह आतंक से पीड़ित हो, जिसके पैरों की शक्ति क्षीण हो चुकी हो, दूसरे गण में जाने में असमर्थ हो, उस श्रमण का भक्तप्रत्याख्यान निरुद्ध अविचार भक्तप्रत्याख्यान कहलाता है।[५९] जब तक उसके शरीर में शक्ति का संचार हो, वह स्वयं अपना कार्य करने में सक्षम हो वहाँ तक वह अपना कार्य स्वयं करे और जब वह असमर्थ हो जाये तब अन्य श्रमण उसकी शुश्रूषा करें।[६०] पैरों का सामर्थ्य क्षीण हो जाने से दूसरे गण में जाने में असमर्थ होने के कारण श्रमण अपने गण में ही निरुद्ध रहता है, एतदर्थ उसके भक्तप्रत्याख्यान को अनिर्हारी भी कहा गया है।[६१] निरुद्ध के जनजात और अनअजात[६२] ये दो प्रकार हैं।

निरुद्धतर

जहरीले सर्प के काट खाने पर, अग्नि आदि का प्रकोप होने पर तथा ऐसे मृत्यु के अन्य तात्कालिक कारण उपस्थित होने पर उसी क्षण जो भक्तप्रत्याख्यान किया जाता है, वह निरुद्धतर है।[६३] अथवा ऐसा कोई कारण उपस्थित हो जाय जिससे शारीरिक शक्ति एकदम क्षीण हो जाए तो उसका अनशन निरुद्धतर कहलाता है। यह अनिर्हारी होता है।[६४]

परम् निरुद्ध

सर्पदंश या अन्य कारणों से जब वाणी अवरुद्ध हो जाती है, उस स्थिति में भक्तप्रत्याख्यान को परम् निरुद्ध[६५] कहा है।

आचार्य शिवकोटि द्वारा प्रतिपादित भक्तप्रत्याख्यान के निरुद्ध और परम् निरुद्ध की तुलना औपपातिक में आए हुए पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान के व्याघात सहित से की जा सकती है। औपपातिकवृत्ति में व्याघात का अर्थ किया है-सिंह, दावानल प्रभृति व्याघात उपस्थित होने पर किए जाने वाला अनशन।[६६] औपपातिक की दृष्टि से पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दोनों अनशन व्याघात सहित और व्याघात रहित दोनों ही स्थितियों में होते हैं। सूत्रकृतांग की दृष्टि से शारीरिक बाधा उत्पन्न हो या न हो तब भी अनशन करने का विधान है।

प्रकारान्तर से पांडितमरण के सागारी संथारा और सामान्य संथारा ये दो प्रकार किए जा सकते हैं। विशेष आपत्ति समुपस्थित होने पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा है। वह संथारा मृत्यु पर्यन्त के लिए नहीं होता, जिस परिस्थिति के कारण संथारा किया जाता है वह परिस्थिति यदि समाप्त हो जाती है, आपत्ति के बादल छंट जाते हैं तो उस व्रत की मर्यादा भी पूर्ण हो जाती है। अन्तकृद्दशांग सूत्र में वर्णन है। भगवान् महावीर राजगृह नगर के बाहर पधारे। श्रावक सुदर्शन उनके दर्शन हेतु प्रस्थित हुआ। अर्जुन मालाकार, जो यक्ष से आविष्ट था, वह मुद्गर घुमाता हुआ श्रेष्ठी सुदर्शन की ओर लपका। उस समय सुदर्शन श्रेष्ठी ने सागारी संथारा किया और उस कष्ट से मुक्त होने पर उसने पुनः अपनी सम्पूर्ण क्रियाएं कीं। यह सामान्य संथारा है। इसमें आगार रहता है।[६७]

संथारा पोरसी

जैन परम्परा में सोते समय जब मानव की चेतना शक्ति धुंधली पड़ जाती है, शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, वह एक प्रकार से अल्पकालीन मृत्यु ही है। उस समय साधक अपनी रक्षा का किंचित् मात्र भी प्रयास नहीं कर सकता, अतः प्रतिदिन रात्रि में सोते समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागारी संथारा करने का विधान है, जिसे "संथारा पोरसी" कहते हैं। सोने के पश्चात् पता नहीं प्रातःकाल सुखपूर्वक उठ सकेगा या नहीं। इसीलिए प्रतिपल प्रतिक्षण सावधान रहने का शास्त्रकारों ने सन्देश दिया है। मोह की प्रबलता में मृत्यु को न भूला जाये। उसे प्रतिक्षण याद रखा जाये। ममता भाव से मुड़कर समता भाव में रमण किया जाये, बाह्य जगत् से हटकर अन्तर् जगत् में प्रवेश किया जाए। सोते समय यदि विशुद्ध भावना रहती है तो स्वप्न में भी विचार विशुद्ध रहते हैं। इसीलिए साधक सोते समय "संथारा पोरसी" करता है।

संथारा या पंडितमरण एक महान कला है। मृत्यु को मित्र मानकर साधक उसके स्वागत की तैयारी करता है। वह अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता है। उसका मन स्फटिक की तरह उस समय निर्मल होता है। पण्डितमरण को समाधिमरण भी कहते हैं। संथारा ग्रहण करने के पूर्व साधक संलेखना करता है। संलेखना संथारे के पूर्व की भूमिका है। संलेखना के पश्चात् जो संथारा किया जाता है, उसमें अधिक निर्मलता और विशुद्धता होती है।

संलेखना का महत्व

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना आवश्यक मानी गई है। श्वेताम्बर परम्परा में "संलेखना" शब्द का प्रयोग हुआ है तो दिगम्बर परम्परा में सल्लेखना शब्द का। संलेखना व्रतराज है। जीवन की अन्तिम वेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है। जीवन भर कोई साधक उत्कृष्ट तप की साधना करता रहे, पर अन्त समय में यदि वह राग-द्वेष के दल-दल में फंस जाये[६८] तो उसका जीवन निष्फल हो जाता है। उसकी साधना विराधना में परिवर्तित हो जाती है। आचार्य शिवकोटि ने तो यहां तक लिखा है–ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मानव यदि मरण के समय धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह संसार में अनंत काल तक परिभ्रमण करता है।[६९]

संलेखना : जीवन की अन्तिम साधना

संलेखना मन की उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना मृत्यु का आकस्मिक वरण नहीं है और न वह मौत का आह्वान ही है, वरन् जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधानीपूर्वक चलना है। वह मृत्यु का मित्र की तरह आह्वान करता है–मित्र! आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे शरीर पर मोह नहीं है। मैंने अपने कर्त्तव्य को पूर्ण क्रिया है। मैंने अगले जन्म के लिए सुगति का मार्ग ग्रहण कर लिया है।[७०] संलेखना जीवन की अन्तिम आवश्यक साधना है। वह जीवन मंदिर का सुन्दर कलश है। यदि संलेखना के बिना साधक मृत्यु का वरण करता है तो उसे कदापि उचित नहीं माना जा सकता है।

संलेखना को एक दृष्टि से स्वेच्छा मृत्यु कहा जा सकता है। जब वैराग्य का तीव्र उदय होता है तब साधक को शरीर और अन्य पदार्थ में बन्धन की अनुभूति होती है। वह बन्धन को समझकर उससे मुक्त बनना चाहता है।

महाराष्ट्र के संत कवि ने कहा–"माझे मरण पाही एले डोला तो झाला सोहला अनुपम्य"–"मैंने अपनी आँखों से मृत्यु को देख लिया, यह अनुपम महोत्सव है।"

वह मृत्यु को आमंत्रित करता है, पर मृत्यु से भयभीत नहीं होता। जैसे कबूतर पर बिल्ली झपटती है तब कबूतर आँखें मूंद लेता है और वह सोचता है, अब बिल्ली झपटेगी नहीं। आँखें मूँद लेने मात्र से बिल्ली कबूतर को छोड़ती नहीं है। इसी तरह यमराज भी मृत्यु भी भुला देने वाले को छोड़ता नहीं है। वह तो अपना हमला करता ही है। अतः साधक कायर की भाँति मुँह नहीं मोड़ता अपितु वीर सेनानी की तरह मुस्कराते हुए मृत्यु का स्वागत करता है।

संलेखना : मृत्यु पर विजय पाने की कला

संलेखना मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाती है। वह जीवन-शुद्धि और मरण शुद्धि की एक प्रक्रिया है। जिस साधक ने मदन के मद को गलित कर दिया है जो परिग्रह पंक से मुक्त हो चुका है, सदा सर्वदा आत्म चिन्तन में लीन रहता है वही व्यक्ति उस मार्ग को अपनाता है। संलेखना में सामान्य मनोबल वाला साधक, विशिष्ट मनोबल प्राप्त करता है। उसकी मृत्यु असमाधि का नहीं, समाधि का कारण है। एक सन्त कवि ने कहा–जैसे कोई वधू डोले पर बैठकर ससुराल जा रही हो[७१] तब उसके मन में अपार आह्लाद होता है, वैसे ही साधक को भी परलोक जाते समय अपार प्रसन्नता होती है।

संलेखना और समाधिमरण

संलेखना और समाधिमरण ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रथम संलेखना का लक्षण बताया है और द्वितीय श्लोक में समाधिमरण का। आचार्य शिवकोटि ने "संलेखना" और समाधिमरण को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और श्रमण दोनों के लिए संलेखना का प्रतिपादन कर संलेखना और समाधिमरण का भेद मिटा दिया है। आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण श्रमण के लिए मानते हैं और संलेखना गृहस्थ के लिए।

संलेखना क्या शिक्षाव्रत है

श्रावक के द्वादश व्रतों में जो चार शिक्षाव्रत हैं उनमें आचार्य कुन्दकुन्द ने संलेखना को चौथा व्रत माना है।[७२] आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण करते हुए शिवार्यकोटि, आचार्य देवसेन, आचार्य जिनसेन, आचार्य वसुनन्दि आदि ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है। किन्तु आचार्य उमास्वाति ने संलेखना को श्रावक के द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। उन्होंने संलेखना को अलग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियम धर्म के रूप में प्रतिपादन किया है। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, आचार्य अकलंक, विद्यानन्दी, आचार्य सोमदेव, अमितगति, स्वामि कार्तिकेय प्रभृति अनेक आचार्यों ने आचार्य उमास्वाति के कथन का समर्थन किया है। इस सभी आचार्यों ने एक स्वर से इस सत्य तथ्य को स्वीकार किया है कि शिक्षाव्रतों में संलेखना को नहीं गिनना चाहिए क्योंकि शिक्षाव्रतों में अभ्यास किया जाता है। जबकि संलेखना मृत्यु का समय उपस्थित होने पर स्वीकार की जाती है, उस समय अभ्यास के लिए अवकाश ही कहाँ है? यदि द्वादश व्रतों में संलेखना को गिनेंगे तो फिर एकादश प्रतिमाओं को धारण करने का अवसर ही कहाँ रहेगा, इसलिए उमास्वाति का मानना उचित है।

श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य और आगमेतर साहित्य में कहीं पर भी संलेखना को द्वादश व्रतों में नहीं गिना है। इसलिए समाधिमरण श्रमण के लिए और संलेखना गृहस्थ के लिए है। यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आगम साहित्य में अनेक श्रमण श्रमणियों के द्वारा संलेखना ग्रहण करने के प्रमाण समुपलब्ध होते हैं।

संलेखना की व्याख्या

आचार्य अभयदेव ने "स्थानांगवृत्ति" में[७३] संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखा है–जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल और कृश किया जाता है, वह संलेखना है। "ज्ञातासूत्र" की वृत्ति[७४] में भी इसी अर्थ को स्वीकार किया है। "प्रवचनसारोद्धार" में[७५] शास्त्र में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को संलेखना कहा है।" निशीथचूर्णि व अन्य स्थलों पर संलेखना का अर्थ छीलना–कृश करना किया है।[७६] शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव-संलेखना है।

संलेखना यह "सत्" और "लेखना" इन दोनों के संयोग से बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और "लेखना" का अर्थ है कृश करना। सम्यक् प्रकार से कृश करना। जैन दृष्टि से काय और कषाय को कर्मबन्धन का मूल कारण माना है, इसीलिए उसे कृश करना ही संलेखना है। आचार्य पूज्यपाद ने[७७] और आचार्य श्रुतसागर ने[७८] काय व कषाय को कृश करने पर बल दिया। श्री चामुण्डराय ने "चारित्रसार" में लिखा है–बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रमशः उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना संलेखना है।[७९]

पूर्व पृष्ठों में हमने मरण के दो भेद बताये हैं–नित्यमरण और तद्भवमरण। तद्भवमरण को सुधारने के लिए संलेखना का वर्णन है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा–मृत्यु काल आने पर साधक को प्रीतिपूर्वक संलेखना धारण करनी चाहिए।[८०] आचार्य पूज्यपाद,[८१] आचार्य अकलंक[८२] और आचार्य श्रुतसागर[८३] ने मारणांतिकी संलेखना जोषिता" में जोषिता का अर्थ "प्रीतिपूर्वक" किया है। जिस संलेखना में प्रीति का अभाव है, वह संलेखना सम्यक् संलेखना नहीं है। जब कभी मृत्यु पीछा करती है, उस समय सामान्य प्राणी की स्थिति अत्यन्त कातर होती है, जैसे शिकारी द्वारा पीछा करने पर हरिणी घबरा जाती है, इसके विपरीत वीर योद्धा पीछा करने वाले योद्धाओं से घबराता नहीं, आगे बढ़कर उनसे जूझता है, वह जैसे-तैसे जीवन जीना पसन्द नहीं करता, किन्तु दुर्गुणों को नष्ट कर जीवन जीना चाहता है। एक क्षण भी जीऊँ, किन्तु प्रकाश करते हुए जीऊँ–यही उसके अन्तर्हृदय की आवाज होती है। जो साधक जीवन के रहस्य को नहीं पहचानता है और न मृत्यु के रहस्य को ही पहचानता है, उसका निस्तेज जीवन एक प्रकार से व्यक्तित्व का मरण ही है।[८४]

संलेखना के साथ मारणांतिक विशेषण प्रयुक्त होता है। इससे अन्य तपःकर्म से संलेखना का पार्थक्य और वैशिष्ट्य परिज्ञात होता है।

काय संलखना को बाह्य संलेखना कहते हैं और कषाय संलेखना को आभ्यन्तर संलेखना। बाह्य संलेखना में आभ्यन्तर कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को वह शनैः-शनैः कृश करता है। इस प्रकार संलेखना में कषाय क्षीण होने से तन क्षीण होने पर भी मन में अपूर्व आनंद रहता है।

संलेखना में शरीर और कषाय को साधक इतना कृश कर लेता है, जिससे उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की कामना नहीं होती। उसके अनशन में पूर्ण रूप से स्थैर्य आ जाता है। अनशन से शरीर क्षीण हो सकता है, पर आयुकर्म क्षीण न हो और वह सबल हो तो अनशन दीर्घकाल तक चलता है, जैसे दीपक में तेल और बाती का एक साथ ही क्षय होने से दीपक बुझता है वैसे ही आयुष्यकर्म और देह एक साथ क्षय होने से अनशन पूर्ण होता है।

संलेखना कब करनी चाहिए

आचार्य समन्तभद्र[८५] ने लिखा है प्रतीकार रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा व रुग्ण स्थिति में या अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर साधक संलेखना करता है।

मूलाराधना में[८६] संलेखना के अधिकारी का वर्णन करते हुए सात मुख्य कारण दिए हैं–

१. दुश्चिकित्स्यव्याधि : संयम को परित्याग किये बिना जिस व्याधि का उपचार करना संभव नहीं हो, ऐसी स्थिति समुत्पन्न होने पर।

२. वृद्धावस्था : जो श्रमण जीवन की साधना करने में बाधक हो।

३. मानव, देव और तिर्यंच संबंधी कठिन उपसर्ग उपस्थित होने पर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. चारित्र विनाश के लिए अनुकूल उपसर्ग उपस्थित किये जाते हों।

५. भयंकर दुष्काल में शुद्ध भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो रहा हो।

६. भयंकर अटवी में दिग्विमूढ़ होकर पथभ्रष्ट हो जाए।

७. देखने की शक्ति व श्रवणशक्ति और पैर आदि से चलने की शक्ति क्षीण हो जाए।

इसी प्रकार अन्य कारण भी उपस्थित हो जाने पर साधक अनशन का अधिकारी होता है।

वैदिक परम्परा और संलेखना

वैदिक परम्परा में संलेखना के ही अर्थ में "प्रायोपवेशन", "प्रायोपवेश", "प्रायोपगमन", "प्रायोपवशानका"–शब्द व्यवहृत हुए हैं जिनका अर्थ है वह अनशन व्रत जो प्राण त्यागने के लिए किया जाये, अन्न जल त्याग करके बैठना।[८७] बी. एस. आप्टे के शब्दकोश में "प्रायोपवेशन" में अन्न जल त्याग की स्थिति और मृत्यु की प्रतीक्षा पर बल दिया है।[८८] पर मानसिक स्थिति के संबंध में कुछ भी चिन्तन नहीं है। जबकि संलेखना में केवल अन्न-जल त्यागना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु अन्न जल के त्याग के साथ विवेक, संयम और शुभसंकल्प आदि अत्यन्त आवश्यक है। "प्रायोपगमन" या "पादोपगमन" एक सदृश शब्द होने पर भी दोनों में गहन अंतर है। प्रथम का सीधा संबंध शरीर से है तो दूसरे का संबंध मानसिक विशुद्धि से है। मानसिक विशुद्धि होने पर शारीरिक स्थिरता, स्वाभाविक रूप से आ सकती है।

वैदिक पुराणों में प्रायोपवेशन की विधि का उल्लेख है। मानव से जब किसी प्रकार का कोई महान पाप कार्य हो जाए या दुश्चिकित्स्य महारोग के उत्पीड़ित होने से देह के विनाश का समय उपस्थित हो जाये, तब ब्रह्मत्व की उपलब्धि के लिए या स्वर्ग आदि के लिए प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करें अथवा अनशन से देह का परित्याग करें। प्रस्तुत अधिकार सभी वर्णवालों के लिए है। इस विधान में पुरुष और नारी का भी भेद नहीं है।[८९]

प्रायोपवेशन का अर्थ अनशनपूर्वक "मृत्यु का वरण करना" किया गया है।[९०] प्रायोपवेशन शब्द में दो पद हैं–"प्राय" और "उपवेशन"। "प्राय" का अर्थ "मरण के लिए[९१] अनशन" और "उपवेशन" का अर्थ है "स्थित होना"।[९२]

प्रायोपवेशन किसी तीर्थ स्थान में करने का उल्लेख प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने तो रघुवंश में स्पष्ट कहा है–"योगेनान्ते तनुत्यजां।[९३] वाल्मीकि रामायण में सीता की अन्वेषणा के प्रसंग में प्रायोपवेशन का वर्णन प्राप्त होता है। जब सुग्रीव द्वारा भेजे गये वानर सीता की अन्वेषणा करने में सफल न हो सके तब अंगद ने उनसे कहा कि हमें प्रायोपवेशन करना चाहिए।[९४]

राजा परीक्षित के भी प्रायोपवेशन ग्रहण करने का वर्णन श्रीमद् भागवत् में मिलता है।[९५] महाभारत, राजतरंगिणी और पंचतन्त्र में भी प्रायोपवेशन का उल्लेख संप्राप्त होता है। रामायण में "प्रायोपवेशन" के स्थान पर "प्रायोपगमन" तथा चरक में "प्रायोपयोग" अथवा "प्रायोपेत" शब्द व्यवहृत हुए हैं। श्रीमद् भगवद्गीता में मृत्युवरण में योग की प्रधानता स्वीकार की है।[९६]

इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी प्रायोपवेशन जीवन की एक अंतिम विशिष्ट साधना रही है।

आचारांग[९७] में संलेखना के संबंध में बताया है कि जब श्रमण को यह अनुभव हो कि उसका शरीर ग्लान हो रहा है, वह उसे धारण करने में असमर्थ है, तब वह क्रमशः आहार का संकोच करे, आहार संकोच करके शरीर को कृश करे।

संलेखना की विधि

संलेखना का उत्कृष्ट काल १२ वर्ष का माना गया है। मध्यमकाल एक वर्ष का है और जघन्य काल छः महीने का।[९८] "प्रवचनसारोद्धार" में उत्कृष्ट संलेखना का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए बताया है कि प्रथम चार वर्षों में चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि तप की उत्कृष्ट साधना करता रहे और पारणे में शुद्ध तथा योग्य आहार ग्रहण करे। अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध प्रकार से विचित्र तप करता रहे और पारणें में रसनिर्यूढ़ विगय का परित्याग कर दे। इस तरह आठ वर्ष तक तपः साधना करता रहे। नौवें और दसवें वर्ष में उपवास करे तथा पारणे में आयंबिल तप की साधना करे। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः मास में सिर्फ चतुर्थ भक्त, छट्ठ भक्त तप के साथ तप करे और पारणे में आयंबिल तप की साधना करें तथा आयंबिल में भी ऊनोदरी तप करें। अगले छः माह में उपवास, छट्ठ भक्त, अष्टम भक्त, प्रभृति तप करे किन्तु पारणे में आयंबिल तप करना आवश्यक है। इन छः माह में आयंबिल तप में ऊनोदरी तप करने का विधान नहीं है।[९९]

संलेखना के बारहवें वर्ष के संबंध में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत रहे हैं। आचार्य जिनदासगणी महत्तर का अभिमत है कि बारहवें वर्ष में निरन्तर उष्ण जल के आगार के साथ हायमान आयंबिल तप करे। जिस आयंबिल में अंतिम क्षण द्वितीय आयंबिल के आदि क्षण से मिल जाता है वह कोडीसहियं आयंबिल कहलाता है।[१००] हायमान से तात्पर्य है निरन्तर भोजन और पानी की मात्रा न्यून करते जाना। वर्ष के अन्त में उस स्थिति पर पहुँच जाए कि एक दाना अन्न और एक बूँद पानी ग्रहण किया जाए। प्रवचन-सारोद्धार की वृत्ति में भी प्रस्तुत क्रम का ही प्रतिपादन किया गया है।

बारहवें वर्ष में भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करना चाहिए। एक-एक कवल कम करते-करते जब एक कवल आहार आ जाए तब एक-एक दाना कम करते हुए अंतिम चरण में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक दाने को ही ग्रहण करें।[१०१] इस प्रकार अनशन की स्थिति पहुँचने पर साधक फिर पादपोपगमन अथवा इंगिणी मरण अनशन व्रत ग्रहण कर समाधिमरण को प्राप्त होवे।

उत्तराध्ययन वृत्ति के[१०२] अनुसार संलेखना का क्रम इस प्रकार है। प्रथम चार वर्ष में विकृति परित्याग अथवा आयंबिल, द्वितीय चार वर्ष में विचित्र तप, उपवास, छट्ठ आदि पारणे में यथेष्ट भोजन[१०३] ग्रहण कर सकता है। नौवे और दसवें वर्ष में एकान्तर उपवास और पारणे में आयंबिल किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः माह में अष्टम, दशम, द्वादश भक्त आदि की तपस्या की जाती है, जिसे विकृष्ट कहा है।[१०४] ग्यारहवें वर्ष में पारणे के दिन आयंबिल तप किया जाता है। प्रथम छः माह में आयंबिल में ऊनोदरी तप करते हैं।[१०५] और द्वितीय छः माह में आयंबिल के समय भर पेट आहार ग्रहण किया जाता है।[१०६] बारहवें वर्ष में कोटि-सहित आयंबिल अर्थात् निरन्तर आयंबिल किया जाता है या प्रथम दिन आयंबिल और दूसरे दिन अन्य कोई तप किया जाता है, पुनः तीसरे दिन आयंबिल किया जाता है।[१०७] बारहवें वर्ष के अन्त में अर्धमासिक या मासिक अनशन भक्त, परिज्ञा आदि किया जाता है।[१०८]

जिनदास गणि क्षमाश्रमण के अभिमतानुसार संलेखना के बारहवें वर्ष में धीरे-धीरे आहार की मात्रा न्यून की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ पूर्ण हो सकें। उस वर्ष अन्तिम चार महीनों में मुख-यन्त्र विसंवादी न हो अर्थात् नमस्कार महामंत्र आदि के जप करने में असमर्थ न हो जाए, एतदर्थ कुछ समय के लिए मुँह में तेल भरकर रखा जा सकता है।[१०९]

दिगम्बर आचार्य शिवकोटि ने अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता इन छः बाह्य तपों को बाह्य संलेखना का साधन माना है।[११०] संलेखना का दूसरा क्रम यह भी है कि प्रथम दिन उपवास और द्वितीय दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप किया जाए।[१११] बारह प्रकार की जो भिक्षु प्रतिमाएँ हैं, उन्हें भी संलेखना का साधन माना गया है।[११२]

काय संलेखना के इन विविध विकल्पों में आयंबिल तप उत्कृष्ट साधन है। संलेखना करने वाला साधक छट्ठ अष्टम, दशम, द्वादश आदि विविध तप करके पारणे में बहुत ही परिमित आहार ग्रहण करे, या तो पारणे में आयंबिल करे अथवा कांजी का आहार ग्रहण करें।[११३]

मूलाराधना में भक्त परिज्ञा का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का माना है।[११४] उनकी दृष्टि से प्रथम चार वर्षों में विचित्र कायक्लेशों के द्वारा तन को कृश किया जाता है। उसमें कोई क्रम नहीं होता। दूसरे चार वर्षों में विकृतियों का परित्याग कर शरीर को कृश किया जाता है।[११५] नौवें और दसवें वर्ष में आयंबिल और विगयों का त्याग किया जाता है। ग्यारहवें वर्ष में केवल आयंबिल किया जाता है। बारहवें वर्ष में प्रथम छः माह में अविकृष्ट तप, उपवास, बेला आदि किया जाता है।[११६] बारहवें वर्ष के द्वितीय छः माह में विकृष्टतम तेला, चौला आदि तप किए जाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में संलेखना के विषय में यत्किंचित् मतभेद है पर दोनों ही परम्पराओं का तात्पर्य एक सदृश है। मूलाराधना में आचार्य शिवकोटि ने लिखा है–संलेखना का जो क्रम प्रतिपादित किया गया है, वही क्रम पूर्ण रूप से निश्चित हो, यह बात नहीं है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और शारीरिक संस्थान आदि की दृष्टि से उस क्रम में परिवर्तन भी किया जा सकता है।[११७]

संलेखना में तपविधि का प्रतिपादन किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि तप ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मन्दता आवश्यक है। विगयों से निवृत्ति अनिवार्य है। तपः कर्म के साथ ही अप्रशस्त भावनाओं का परित्याग और प्रशस्त भावनाओं का चिन्तन परमावश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि संलेखना व्रत ग्रहण करने के पूर्व संलेखना व्रतधारी को विचारों की विशुद्धि के लिए सभी सांसारिक संबंधों से संबंध विच्छेद कर लेना चाहिए। यदि किसी के प्रति मन में आक्रोश हो तो उससे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। मानसिक शान्ति के लिए साधक को सबसे पहले सद्गुरु के समक्ष निःशल्य होकर आलोचना करनी चाहिए। आलोचना करते समय मन में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं रखना चाहिए। अपने जीवन में तन से, मन से और वचन से जो पापकृत्य किए हों, करवाये हों या करने की प्रेरणा दी हो उनकी आलोचना कर हृदय को विशुद्ध बनाना चाहिए। यदि आचार्य या सद्गुरु का अभाव हो तो अपने दोषों को बहुश्रुत श्रावकों एवं साधर्मी भाइयों के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए।[११८]

आचार्य वीरनन्दी ने अपने "आचारसार"[११९] नामक ग्रन्थ में लिखा है कि साधक को संलेखना की सफलता के लिए योग्य स्थान का चुनाव करना चाहिए जहाँ के राजा के मन में धार्मिक भावना हो, जहाँ की प्रजा के अन्तर्मानस में धर्म और आचार्य के प्रति गहरी निष्ठा हो, जहाँ के निवासी आर्थिक दृष्टि से सुखी और समृद्ध हों, जहाँ का वातावरण तपः साधना के लिए व्यवधानकारी न हो। साथ ही साधक को अपने शरीर तथा चेतन-अचेतन किसी भी वस्तु के प्रति मोह ममता न हो। यहाँ तक कि अपने शिष्यों के प्रति भी मन में किंचित् मात्र भी आसक्ति न हो। यह परीषहों को सहन करने में सक्षम हो। संलेखना की अवधि में पहले ठोस पदार्थों का आहार में उपयोग करें। उसके पश्चात् पेय पदार्थ ग्रहण करे। आहार उस प्रकार का ग्रहण करना चाहिए जिससे शरीर के वात, पित्त, कफ विक्षुब्ध न हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संलेखना ग्रहण करने के पूर्व इस बात की जानकारी आवश्यक है कि जीवन और मरण की अवधि कितनी है। यदि शरीर में व्याधि हो गई हो पर जीवन की अवधि लम्बी हो तो साधक को संलेखना ग्रहण करने का विधान नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के तेजस्वी आचार्य समन्तभद्र को "भस्म रोग" हो गया और उससे वे अत्यन्त पीड़ित रहने लगे। उन्होंने अपने गुरु से संलेखना की अनुमति चाही। पर उनके सद्‌गुरुदेव ने अनुमति नहीं दी, क्योंकि उन्होंने देखा कि इनका आयु बल अधिक है, इनसे जिन-शासन की प्रभावना होगी।

संथारे की विधि

संलेखना के पश्चात् संथारा किया जाता है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों की दृष्टि से संथारा ग्रहण विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम किसी निरवद्य शुद्ध स्थान में अपना आसन जमाए उसके पश्चात् वह दर्भ, घास पराल आदि में से किसी का संथारा-बिछौना बिछाए। फिर पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह करके बैठे। उसके पश्चात् "अह भंते"! अपच्छिम मारणांतिय संलेहणा-झूसणां आराहणाए आरोहेमि"— "हे भगवान् ! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन एवं आराधना करता हूँ"—इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करे। उसके बाद नमस्कार महामंत्र तीन बार, वन्दना, इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी करणेणं, लोगस्स का पाठ व उसके पश्चात् ऊपर का पाठ बोलकर तीर्थंकर भगवान् की साक्षी से इस व्रत को ग्रहण करे। तदुपरांत निवेदन करे कि—"भगवन् ! मैं अभी से सागारी या आगाररहित संथारा-भक्तप्रत्याख्यान करता हूँ—चारों आहार का त्याग करता हूँ। अठारह पापस्थानों का त्याग करता हूँ। मनोज्ञ, इष्ट, कान्त, प्रिय, विश्वसनीय, आदेय, अनुमत, बहुमत, भाण्डकरण्डक समान, शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि मिटाकर सदा जतन किया हुआ, हत्यारे, चोरादि से, डांस मच्छर आदि से रक्षा किया हुआ, व्याधि, पित्त, कफ, वात, सन्निपातिक आदि से भी बचाया हुआ विविध प्रकार के स्पर्शों से सुरक्षित, श्वासोच्छ्‌वास की सुरक्षा प्राप्त इस शरीर पर मैंने जो अब तक मोह ममत्व किया था, उसे अब मैं अन्तिम श्वासोच्छ्‌वास तक त्यागता हूँ, मुझे कोई भी चिन्ता न होगी। क्योंकि अब यह शरीर धर्म पालन करने में समर्थ न रहा, बोझ रूप हो गया, आतंकित या अत्यन्त जीर्ण, अशक्त हो गया।"

उपासकदशांग में आनंद श्रमणोपासक बहुत वर्षों तक गृहस्थ जीवन में सुखों का उपभोग करते रहे। जीवन की सान्ध्यबेला में वे स्वयं पोषधशाला में जाते हैं और दब्ब संथारयं संथरई—दर्भ का संथारा बिछाते हैं। धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर विविध तप कार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना करते हुए शरीर को कृश करते हैं। जिसे हम संथारा कहते हैं, वह अनशन का द्योतक है। आगम साहित्य में संथारा का अर्थ "दर्भ का बिछौना" है। "संलेखना" शब्द का प्रयोग "मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता" इस सूत्र रूप में किया जाता है।

"प्रवचनसारोद्धार" में लिखा है—साधक द्वादशवर्षीय उत्कृष्ट संलेखना करके तदनन्तर कन्दरा, पर्वत, गुफा या किसी निर्दोष स्थान पर जाकर पादपोपगमन या भक्तप्रत्याख्यान या इंगिणीमरण को धारण करे।[१२०]

सारांश यह है कि संलेखना के पश्चात् संथारा ग्रहण किया जाता था। यदि कोई आकस्मिक कारण आ जाता तो संलेखना के बिना भी संथारा ग्रहण कर समाधिमरण को वरण किया जाता था।

संथारा-संलेखना का महत्व

संथारा-संलेखना करने वाला साधक धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है तथा निःश्रेयस् और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है।[१२१] पंडित आशाधरजी ने कहा है—जिस महासाधक ने संसार परम्परा को सम्पूर्ण रूप से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है, उसने धर्मरूपी महान् निधि को परभव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण प्राप्त किया किन्तु समाधि सहित पुण्यमरण नहीं हुआ। यदि समाधि सहित पुण्यमरण होता तो यह आत्मा संसाररूपी पिंजड़े में अभी भी बन्द होकर नहीं रहता।[१२२] भगवती आराधना[१२३] में कहा है—जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है, वह सात आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता। आचार्य समन्तभद्र ने[१२४] कहा है—जीवन में आचरित तपों का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना है।

"मृत्यु महोत्सव" में लिखा है—जो महान् फल बड़े-बड़े व्रती, संयमी आदि को कायक्लेश आदि उत्कृष्ट तप तथा अहिंसा आदि महाव्रतों को धारण करने से प्राप्त नहीं होता वह फल अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है।[१२५]

"गोम्मटसार"[१२६] में आचार्य नेमिचन्द्र ने शरीर के त्याग करने के तीन प्रकार बताए हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। अपने आप आयु समाप्त होने पर शरीर छूटता है वह च्युत है, विषभक्षण, रक्तक्षय, धातुक्षय, शास्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जल प्रवेश प्रभृति विभिन्न निमित्तों से जो शरीर छूटता है, वह च्यावित है। रोग आदि समुत्पन्न होने पर तथा असाध्य मारणांतिक कष्ट व उपसर्ग आदि उपस्थित होने पर विवेकयुक्त समभावपूर्वक जो शरीर त्याग किया जाता है, वह त्यक्त है। त्यक्त शरीर ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें साधक पूर्ण जागृत रहता है। उसके मन में संक्लेश नहीं होता। इसी मरण को संथारा, समाधिमरण, पंडितमरण, संलेखनामरण प्रभृति विविध नामों से कहा गया है।

आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कड़ाई स्थविरों का वर्णन है। वे संथारा-संलेखना करने वाले साधकों के साथ पर्वत आदि पर जाते हैं और जब तक संथारा करने वाले का संथारा पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक वे स्वयं भी आहारादि ग्रहण नहीं करते।[१२७]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ भगवती आराधना[१२८] में भी इस प्रकार के साधकों का विस्तार से वर्णन है।

संलेखना के पांच अतिचार

१. इहलोकाशंसा प्रयोग : धन, परिवार आदि इस लोक संबंधी किसी वस्तु की आकांक्षा करना।

२. परलोकाशंसा प्रयोग : स्वर्ग-सुख आदि परलोक से संबंध रखने वाली किसी बात की आकांक्षा करना।

३. जीविताशंसा प्रयोग : जीवन की आकांक्षा करना।

४. मरणाशंसा प्रयोग : कष्टों से घबराकर शीघ्र मरने की आकांक्षा करना।

५. कामभोगाशंसा प्रयोग : अतृप्त कामनाओं की पूर्ति के रूप में काम-भोगों की आकांक्षा करना।

सावधानी रखने पर भी प्रमाद या अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की संभावना है उन्हें अतिचार कहा है। साधक इन दोषों से बचने का प्रयास करता है।

जैन परम्परा की तरह ही तथागत बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की इच्छा को अनैतिक माना है। बुद्ध की दृष्टि से भवतृष्णा और विभवतृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा का द्योतक है। जब तक ये आशाएँ और तृष्णाएँ चिदाकाश में मण्डराती रहती हैं, वहाँ तक पूर्ण नैतिकता नहीं आ सकती। इसलिए इनसे बचना आवश्यक है।

साधक को न जीने की इच्छा करनी चाहिए, न मरने की इच्छा करनी चाहिए क्योंकि जीने की इच्छा में प्राणों के प्रति मोह झलकता है तो मरने की इच्छा में जीने के प्रति अनिच्छा व्यक्त होती है। साधक को जीने और मरने के प्रति अनासक्त और निर्मोही होना चाहिए। एतदर्थ ही भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है– साधक जीवन और मरण दोनों ही विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त बनकर रहे[१२९] और सदा आत्मभाव में स्थित रहे। वर्तमान जीवन के कष्टों से मुक्त होने के लिए और स्वर्ग के रंगीन सुखों के प्राप्त करने की कमनीय कल्पना से जीवन रूपी डोरी को काटना एक प्रकार से आत्महत्या है। साधक के अन्तर्मानस में न लोभ का साम्राज्य होता है, न भय की विभीषिकाएं होती हैं, न मन में निराशा के बादल मंडराते हैं और न आत्म ग्लानि ही होती है। वह इन सभी द्वन्द्वों से विमुक्त होकर तथा निर्द्वन्द्व बनकर साधना करता है। उसके मन में न आहार के प्रति आसक्ति होती है और न शारीरिक विभूषा के प्रति ही। उसकी साधना एकान्त निर्जरा के लिए होती है।

संलेखना आत्महत्या नहीं है

जिन विज्ञों को समाधिमरण के संबंध में सही जानकारी नहीं है, उन विज्ञों ने यह आक्षेप उठाया है कि समाधिमरण आत्महत्या है। पर गहराई से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता है कि समाधिमरण आत्म हत्या नहीं है। जिनका जीवन भौतिकता से ग्रसित है, जो जरा सा शारीरिक कष्ट सहन नहीं कर सकते, जिन्हें आत्मोद्धार का परिज्ञान नहीं है, वे मृत्यु से भयभीत होते हैं, पर जिन्हें आत्म तत्व का परिज्ञान है, जिन्हें दृढ़ विश्वास है कि आत्मा और देह दोनों पृथक हैं, उन्हें देहत्याग के समय किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं होती जैसे एक यात्री को सराय छोड़ते समय मन में विचार नहीं आता।

समाधिमरण में मरने की किंचित् मात्र भी इच्छा नहीं होती, इसलिए वह आत्महत्या नहीं है। समाधिमरण के समय जो आहारादि का परित्याग किया जाता है, उस परित्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, पर देह पोषण की इच्छा का अभाव होता है। आहार के परित्याग से मृत्यु हो तो सकती है, किन्तु उस साधक को मृत्यु की इच्छा नहीं है। किसी व्यक्ति के शरीर में यदि कोई फोड़ा हो चुका है, डॉ. उसकी शल्य चिकित्सा करता है। शल्य चिकित्सा से उसे अपार वेदना होती है। किन्तु वह शल्यचिकित्सा रुग्ण व्यक्ति को कष्ट देने के लिए नहीं, अपितु उसके कष्ट के प्रतीकार के लिए है, वैसे ही संथारा-संलेखना की जो क्रिया है वह मृत्यु के लिए नहीं पर उसके प्रतीकार के लिए है।[१३०]

एक रुग्ण व्यक्ति है। डॉक्टर शल्य चिकित्सा के द्वारा उसकी व्याधि को नष्ट करने का प्रयास करता है। शल्य चिकित्सा करते समय डॉक्टर प्रबल प्रयास करता है कि रुग्ण व्यक्ति बच जाए। उसके प्रयत्न के बावजूद भी यदि रुग्ण व्यक्ति मर जाता है तो डॉक्टर हत्यारा नहीं कहलाता। इसी तरह संथारा-संलेखना में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं हो सकती। शल्य चिकित्सा दैहिक जीवन की सुरक्षा के लिए है और संलेखना-संथारा आध्यात्मिक जीवन की सुरक्षा के लिए है।

कितने ही समालोचक जैन दर्शन पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि जैन दर्शन जीवन से इकरार नहीं करता, वह जीवन से इनकार करता है। पर उनकी यह समालोचना भ्रान्त है। जैन दर्शन जीवन के मिथ्यामोह से इनकार अवश्य करता है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि यदि जीवन जीने में कोई विशिष्ट लाभ है, तुम्हारा जीवन स्व और परहित की साधना के लिए उपयोगी है तो तुम्हारा कर्त्तव्य है कि सभी प्रकार से जीवन की सुरक्षा करो। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में साधक को कहा–"तुम्हारा शरीर न रहेगा तो तुम संयम की साधना, तप की आराधना और मनो-मंथन किस प्रकार कर सकोगे? संयम साधना के लिए तुम्हें देह की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। उसका प्रतिपालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।"[१३१] संयमी साधक के शरीर की समस्त क्रियाएँ संयम के लिए हैं। जिस शरीर से संयम की विराधना होती हो, मन में संक्लेश पैदा होता हो वह जीवन किस काम का?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन के मूर्धन्य मनीषियों का यह स्पष्ट मंतव्य रहा है कि वही जीवन आवश्यक है जिससे संयमी जीवन की शुद्धि होती है, उस जीवन की सतत् रक्षा करनी चाहिए। इसके विपरीत जिस जीवन से संयमी जीवन धुँधला होता हो उस जीवन से तो मरना अच्छा है। इस दृष्टि से जैन दर्शन जीवन से इनकार करता है किन्तु प्रकाश करते हुए, संयम की सौरभ फैलाते हुए जीवन से इनकार नहीं करता।

संलेखना व संथारे के द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है, जिसकी मनोकामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं। वह संघर्षों से ऊबकर जीवन से पलायन करना चाहता है या किसी से अपमान होने पर, कलह होने पर, आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर, पारस्परिक मनोमालिन्य होने पर, किसी के द्वारा तीखे व्यंग कसने पर, वह कुएं में कूदकर, समुद्र में गिरकर, पैट्रोल और तेल छिड़कर, ट्रेन के नीचे आकर, विष का प्रयोग कर फाँसी लगाकर या किसी शस्त्र से अपना जीवन समाप्त करना चाहता है। आत्महत्या में वीरता नहीं, किन्तु कायरता है, जीवन से भागने का प्रयास है। आत्महत्या के मूल में भय और कामनाएं रही हुई हैं। उसमें कषाय और वासना की तीव्रता है–उत्तेजना है। पर समाधिमरण में संघर्षों से साधक भयभीत नहीं होता। उसके मन में कषाय, वासना और इच्छाएं नहीं होतीं। जब साधक के सामने एक ओर देह और दूसरी ओर संयम रक्षा इन दो में से एक को चुनने का प्रश्न आता है तो साधक उस समय देह को नश्वर समझकर संयम की रक्षा के लिए संयम के पथ को अपनाता है।

जीवन की सान्ध्य वेला में जब उसे मृत्यु सामने खड़ी दिखाई देती है, वह निर्भय होकर उस मृत्यु को स्वीकार करना चाहता है। उसकी स्वीकृति में अपूर्व प्रसन्नता होती है। वह सोचता है कि यह आत्मा अनन्तकाल से कर्मजाल में फँसी हुई है। उस जाल को तोड़ने का मुझे अपूर्व अवसर मिला है। वह सर्वतन्त्र स्वतंत्र होने के लिए–अविनश्वर आनंद को प्राप्त करने के लिए शरीर को त्यागता है। समाधिमरण में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के द्वारा यह चिन्तन करता है कि कर्मबन्धन का मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ही मैं देह और आत्मा को एक मानता रहा हूँ। जैसे चना और चने का छिलका पृथक् हैं वैसे ही आत्मा और देह पृथक् हैं। मिथ्यात्व से ही पर पदार्थों में रति होती है। ज्ञान और देह पृथक् हैं। मिथ्यात्व से ही पर पदार्थों में रति होती है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है। मिथ्यात्व के कारण वह निजगुण प्रकट नहीं हो सका है। आत्मा सही ज्ञान के अभाव में अनन्त काल से विश्व में परिभ्रमण कर रहा है। जब ज्ञान का पूर्ण निखार होगा तब मुझे केवलज्ञान प्राप्त होगा।

इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से आत्मा और देह की पृथक्ता समझकर चारित्र और तप की आराधना करता है। उसकी आराधना में किसी भी प्रकार की आसक्ति और भय नहीं होता। इसलिए समाधिमरण आत्महत्या नहीं है।

संलेखना की विशेषताएं

संक्षेप में संलेखना व समाधिमरण की निम्न विशेषताएं हैं–

१. जैन धर्म की दृष्टि से शरीर और आत्मा ये दोनों पृथक् पृथक् हैं। जैसे–मोसम्बी और उसके छिलके।

२. आत्मा निश्चय नय की दृष्टि से पूर्ण विशुद्ध है, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अनंत आनंद से युक्त है। जो शरीर हमें प्राप्त हुआ है, उसका मूल कर्म है। कर्म के कारण ही पुनर्जन्म है, मृत्यु है, व्याधियाँ हैं।

३. दैनन्दिन जीवन में जो धार्मिक साधना कर तप पर बल दिया गया है, उसका मूल उद्देश्य है आत्मा में जो कर्म–मैल है उस मैल को दूर करना।

प्रश्न हो सकता है–कर्म आत्मा पर चिपके हुए हैं, फिर शरीर को कष्ट क्यों दिया जाए? उत्तर है–घृत में यदि मलिनता है तो उस मलिनता को नष्ट करने के लिए घृत तो तपाया जाता है, किन्तु घृत अकेला नहीं तपाया जा सकता, वह बरतन के माध्यम से ही तपाया जा सकता है। वैसे ही आत्मा के मैल को नष्ट करने के लिए शरीर को भी तपाया जाता है। यही कारण है कि संलेखना में कषाय के साथ तन को भी कृश किया जाता है।

४. जब शरीर में वृद्धावस्था का प्रकोप हो, रुग्णता हो, अकाल आदि के कारण शरीर के नष्ट होने का प्रसंग उपस्थित हो, उस समय साधक को संलेखना व्रत ग्रहण कर आत्मभाव में स्थिर रहना चाहिए। संलेखना आत्मभाव में स्थिर रहने का महान् उपाय है।

५. संलेखना व्रत ग्रहण करने वाले को पहले मृत्यु के संबंध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। मृत्यु की जानकारी के लिए श्वेताम्बर आचार्यों ने अनेक उपाय बताये हैं। उपदेशमाला के आम्नाय आदि के द्वारा आयु का समय सरलता से जाना जा सकता है।

६. संलेखना करने वाले साधक का मन वासना से मुक्त हो, उसमें किसी भी प्रकार की दुर्भावना नहीं होनी चाहिए।

७. संलेखना करने से पूर्व जिनके साथ कभी भी और किसी भी प्रकार का वैमनस्य हुआ हो उनसे क्षमा याचना कर लेनी चाहिए और दूसरों को क्षमा प्रदान भी कर देनी चाहिए।

८. संलेखना में तनिक मात्र भी विषम भाव न हो, मन में समभाव की मंदाकिनी सतत् प्रवाहित रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. संलेखना अपनी स्वेच्छा से ग्रहण करनी चाहिए। किसी के दबाव में आकर अथवा स्वर्ग आदि के सुखों की प्राप्ति की इच्छा से संलेखना संथारा नहीं करना चाहिए।

१०. संलेखना करने वाला साधक मन में यह न सोचे कि संलेखना-संथारा लम्बे काल तक चले जिससे लोग मेरे दर्शन हेतु उपस्थित हो सकें, मेरी प्रशंसा हो और यह भी न सोचे कि मैं शीघ्र ही मृत्यु को वरण कर लूँ। संलेखना का साधक न जीने की इच्छा करता है, न मरने की। वह तो सदा समभाव में रहकर संलेखना की साधना करता है। उसमें न लौकैषणा होती है, न वित्तैषणा होती है, न पुत्रैषणा होती है।

संलेखना आत्म बलिदान नहीं

शैव और शाक्त सम्प्रदायों में पशु बलि की भाँति आत्म-बलिदान को अत्यधिक महत्व दिया गया है। किन्तु जैन धर्म में उसका किंचित् भी महत्व नहीं है। संलेखनायुक्त समाधिमरण आत्म बलिदान नहीं है। आत्म बलिदान और समाधिमरण में बहुत अन्तर है। आत्म बलिदान में भावना की प्रबलता होती है, बिना भावातिरेक के आत्म-बलिदान नहीं होता, जबकि समाधिमरण में भावातिरेक नहीं, किन्तु विवेक व वैराग्य की प्रधानता होती है।

यदि हम श्रमण जीवन को सूर्य की उपमा से अलंकृत करें तो कह सकते हैं कि आर्हती दीक्षा ग्रहण करना श्रमण जीवन का उदयकाल है, उसके पूर्व की वैराग्य अवस्था साधक जीवन का उषाकाल है। जब साधक उत्कृष्ट तप जप व ज्ञान की साधना करता है, उस समय उसकी साधना का मध्याह्न काल होता है और जब साधक संलेखना प्रारंभ करता है, तब उसका सन्ध्याकाल होता है। सूर्योदय के समय पूर्व दिशा मुस्कुराती है, उषा सुन्दरी का दृश्य अत्यन्त लुभावना होता है। उसी प्रकार सन्ध्या के समय पश्चिम दिशा का दृश्य भी मन को लुभाने वाला होता है। सन्ध्या की सुहावनी लालिमा भी दर्शक के हृदय को आनंद विभोर बना देती है। वही स्थिति साधक की है। उसके जीवन में भी संयम को ग्रहण करते समय जो मन में उल्लास और उत्साह होता है, वही उत्साह मृत्यु के समय भी होता है।

जिस छात्र ने वर्ष भर कठिन श्रम किया है, वह परीक्षा देते समय घबराता नहीं है। उसके मन में एक प्रकार का उत्साह होता है। वह प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण भी होता है, वैसे ही जिस साधक ने निर्मल संयम की साधना जीवन भर की है। वह संथारे से घबराता नहीं, उसके मन में एक आनंद होता है। एक शायर के शब्दों में—

''मुबारक जिन्दगी के वास्ते दुनिया का मर मिटना।
हमें तो मौत में भी जिन्दगी मालूम देती है॥
मौत जिसको कह रहे वो जिन्दगी का नाम है।
मौत से डरना-डराना कायरों का काम है॥''

जैन आगम साहित्य, उसका व्याख्या साहित्य और जैन कथा साहित्य इतिहास में संलेखनायुक्त समाधिमरण प्राप्त करने वाले हजारों साधक और साधिकाओं का उल्लेख है। तीर्थंकरों से लेकर गणधर, आचार्य, उपाध्याय व श्रमण-श्रमणियां तथा गृहस्थ साधक भी समाधिमरण को वरण करने में अत्यन्त आनंद की अनुभूति करते रहे हैं।

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी समाधिमरण का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। इस तरह सम्पूर्ण जैन परम्परा समाधिमरण को महत्व देती रही है।

भगवान महावीर के पश्चात् द्वादश वर्षों के भयंकर दुष्कालों में संयम-साधना में अनेक बाधाएँ उपस्थित होने लगीं तो उन वीर श्रमणों ने संलेखनायुक्त मरण स्वीकार कर ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया। विस्तार भय से हम यहाँ प्रागैतिहासिक काल से आज तक की सूची नहीं दे रहे हैं। यदि कोई शोधार्थी इस पर कार्य करे तो उसे बहुत कुछ सामग्री सहज रूप से उपलब्ध हो सकती है।

संलेखना और आत्मघात में अन्तर

संलेखना और आत्मघात में शरीर त्याग समान रूप से है, पर शरीर को कौन, कैसे और क्यों छोड़ रहा है? यह महत्वपूर्ण बात है। संलेखना में वही साधक शरीर का विसर्जन करता है जिसने अध्यात्म की गहन साधना की है, भेदविज्ञान की बारीकियों से जो अच्छी तरह से परिचित है, जिसका चिन्तन स्वस्थ, सुचिन्तित है। ''मैं केवल शरीर ही नहीं हूँ, किन्तु मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है। शरीर मरणशील है और आत्मा शाश्वत् है। पुद्गल और जीव ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। दोनों के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व हैं। पुद्गल कभी जीव नहीं हो सकता और जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता। संलेखना जीव और पुद्गल जो एकमेक हो चुके हैं उसे पृथक् करने का एक सुयोजित प्रयास है।''

संलेखना और आत्मघात इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है। आत्मघात करते समय व्यक्ति की मुख मुद्रा विकृत होती है, उस पर तनाव होता है, उस पर भय की रेखाएं झलकती रहती हैं किन्तु संलेखना में साधक की मुख-मुद्रा पूर्ण शान्त होती है, उसके चेहरे पर किसी भी प्रकार की आकुलता-व्याकुलता नहीं होती। आत्मघात करने वाले का स्नायु तंत्र तनावयुक्त होता है, जबकि संलेखना करने वाले का स्नायु तन्त्र तनावमुक्त होता है। आत्मघात करने वाले व्यक्ति की मृत्यु आकस्मिक होती है, जबकि संलेखना करने वाले को मृत्यु जीवन दर्शन पर आधारित होती है। आत्मघात करने वाला जिस स्थान पर आत्मघात करना चाहता है, उस स्थान को वह प्रकट नहीं होने देना चाहता, वह लुक-छिपकर आत्मघात करता है, जबकि संलेखना करने वाला साधक किसी भी प्रकार उस स्थान को नहीं छिपाता है, उसका स्थान पूर्व निर्धारित होता है, सभी को ज्ञात होता है। आत्मघात करने वाले की वृत्ति में कायरता है, वह अपने कर्त्तव्य से पलायन करना चाहता है जबकि संलेखना वाले की वृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में प्रबल पराक्रम है, उसमें पलायन नहीं वरन् सत्य स्थिति को स्वीकार करना है।

आत्मघात और संलेखना के अन्तर को मनोविज्ञान द्वारा भी स्पष्ट समझा जा सकता है। मानसिक तनाव तथा अनेक सामाजिक विसंगति व विषमताओं के कारण आत्मघात की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। भौतिकवाद की चकाचौंध में पले-पुसे व्यक्तियों को यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि शान्ति के साथ योजनापूर्वक मरण का वरण किया जा सकता है। संलेखना विवेक की धरती पर एक सुस्थित मरण है।

संलेखना में केवल शरीर ही नहीं, किन्तु कषाय को भी कृश किया जाता है। उसमें सूक्ष्म समीक्षण भी किया जाता है। जब तक शरीर पर पूरा नियंत्रण नहीं किया जाता, वहाँ तक संलेखना की अनुमति प्राप्त नहीं होती। मानसिक संयम, सम्यक् चिन्तन के द्वारा पूर्ण रूप से पक जाता है तभी संलेखना धारण की जाती है। संलेखना पर जितना गहन चिन्तन-मनन जैन मनीषियों ने किया है उतना अन्य चिन्तकों द्वारा नहीं हुआ है। संलेखना के चिन्तन का संबंध किसी प्रकार का लौकिक लाभ नहीं। उसका लक्ष्य पार्थिव समृद्धि या सांसारिक सिद्धि भी नहीं है, अपितु जीवन दर्शन है। संलेखना जीवन के अंतिम क्षणों में की जाती है, पर आत्मघात किसी भी समय किया जा सकता है।

बौद्ध परम्परा में

जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा में समाधिमरण के संबंध में विशेष चिन्तन नहीं किया है। उन्होंने इस प्रकार के मरण को एक प्रकार से अनुचित ही माना है। बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर कुछ ऐसे सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं, जिसमें इच्छापूर्ण मृत्यु को वरण करने वाले साधक की मृत्यु का समर्थन भी किया गया है। सीठ, सप्पदास, गोधिक, भिक्षु वक्कलि[१३२] कुलपुत्र और भिक्षु छन्न[१३३] ये असाध्य रोग से पीड़ित थे। उन्होंने आत्महत्याएँ कीं। जब तथागत बुद्ध को उनकी आत्महत्या का परिज्ञान हुआ तो उन्होंने कहा–वे दोनों निर्दोष हैं। उन दोनों भिक्षुओं ने आत्महत्या करके परिनिर्वाण प्राप्त किया है।

आज भी जापानी बौद्धों में "हाराकीरी" (स्वेच्छा से शस्त्र द्वारा आत्महत्या) की प्रथा प्रचलित है, जिसके द्वारा मृत्यु को वरण किया जाता है, पर वह समाधिमरण से पृथक है। बौद्ध परम्परा में शस्त्र के द्वारा तत्काल मृत्यु को वरण करना अच्छा माना गया है। जैन मनीषियों ने शस्त्र के द्वारा मृत्यु को वरण करना सर्वथा अनुचित माना है क्योंकि उसमें मरण की अभिलाषा विद्यमान है। यदि मरण की अभिलाषा न हो तो शस्त्र के द्वारा मरने की आतुरता नहीं होती।

वैदिक परम्परा में

वैदिक परम्परा के साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने आत्महत्या को महापाप माना है। पाराशर स्मृति में[१३४] वर्णन है–जो क्लेश, भय, घमण्ड, क्रोध, प्रभृति के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है, वह व्यक्ति साठ हजार वर्ष तक नरक में निवास करता है।

महाभारतकार[१३५] की दृष्टि से भी आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोक में नहीं जा सकता।

वैदिक ग्रन्थों में मरण के पाँच प्रकार प्ररूपित किए हैं–

१. कालप्राप्तमरण : आयु पूर्ण होने पर जीव की जो स्वाभाविक मृत्यु होती है, वह कालप्राप्तमरण है। संसार के सभी प्राणी इस मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

२. अनिच्छितमरण : प्राकृतिक प्रकोप, वर्षा की अधिकता, दुर्भिक्ष, विद्युत्पात, नदी की बाढ़, वृक्ष, पर्वत आदि से गिरने पर जो मृत्यु होती है, वह अनिच्छितमरण है।[१३६]

३. प्रमादमरण[१३७] : असावधानी से निःशंकावस्था में अग्नि, जल, शस्त्र रज्जु, पशु आदि से मृत्यु हो जाना प्रमादमरण है। अनिच्छित और प्रमाद मरण में यही अन्तर है कि प्रमाद में मृत्यु अकस्मात् होती है।

४. इच्छितमरण : क्रोध आदि के कारण मरने की इच्छा से जाज्वल्यमान अग्नि में प्रवेश करना, पानी में डूब जाना, पर्वत से गिरना, तीव्र विष का भक्षण करना, शस्त्र से आघात करना आदि से मृत्यु को वरण करना।[१३८] इस इच्छितमरण का वैदिक ग्रन्थों में विधान नहीं है। स्मृति ग्रन्थों में इस प्रकार मृत्यु को वरण करने वाले को अनुचित माना है। उसका श्राद्ध नहीं करना चाहिए।[१३९] उनके लिए अश्रुपात और दाहादि कर्म भी न करें।[१४०]

विधिमरण–जिसका शास्त्रों ने अनुमोदन किया है। यह वह मरण है जो इच्छापूर्वक अग्निप्रवेश, जलप्रवेश आदि से होता है।

गौतम धर्मशास्त्र में मरण की आठ विधियां[१४१] प्रतिपादित हुई हैं–

१. प्रायः महाप्रस्थान[१४२] : महायात्रा कर प्राण विसर्जन करना।

२. अनाशक[१४३] : अन्नजल का त्याग कर प्राण त्यागना।

३. शस्त्राघात : शस्त्र से प्राण त्याग करना।

४. अग्निप्रवेश : अग्नि में गिरकर प्राणों का परित्याग करना।

५. विषभक्षण : विषसेवन से प्राणों का त्याग।

६. जल प्रवेश : जल में प्रवेश कर प्राण त्याग।

७. उद्बन्धन : गले में रस्सी आदि से फाँसी लगाकर प्राण त्याग।

८. प्रपतन : पहाड़, वृक्ष प्रभृति से गिरकर प्राण त्याग।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत सूत्र में प्रपत, नैः के पश्चात् "च" शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे अन्य मरण भी ग्रहण किए जा सकते हैं।[१४४] वशिष्ठ स्मृति में (९) लोष्ठ और (१०) पाषाण इन दो मरण विधियों का भी उल्लेख है।

रामायण और महाभारत में ऐसे अनेक प्रसंग है। जब किसी व्यक्ति को अपने मन की प्रतिकूल परिस्थिति का परिज्ञान हुआ अथवा प्रियजनों के वियोग के प्रसंग उपस्थित हुए, निराशा के बादल उनके जीवन में उमड़ घुमड़कर मंडराने लगे, युद्ध में पराजय की स्थिति समुत्पन्न हुई तब वे व्यक्ति मरण की इन विधियों को अपनाने की भावना व्यक्त करते हैं। उदाहरण के रूप में, सीता को जब राम वन में अपने साथ ले जाने के लिए तैयार नहीं हुए तो उसने इन्हीं विधियों द्वारा अपने प्राण त्यागने की भावना व्यक्त की।[१४५] इसी प्रकार पंचवटी में भी लक्ष्मण को राम की अन्वेषणा के लिए प्रेषित करने हेतु उत्प्रेरित करते हुए सीता ने इसी बात को दुहराया।[१४६] राम को वनवास देने के कारण भरत[१४७] अपनी माँ पर क्रुद्ध हुआ और उसने आवेश में मां की भर्त्सना करते हुए कहा-या तो तुम धधकती हुई ज्वाला में प्रविष्ट हो जाओ, या दण्डकारण्य में चली जाओ, या फांसी लगाकर मर जाओ।

इन सभी उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रामायण काल में वे उपाय अपनाये जाते थे। रामायण काल के पश्चात् महाभारत काल में भी आत्मघात के लिए इन उपायों को अपनाने के लिए तैयारी देखी जाती है। दुर्योधन पांडवों को देखकर ईर्ष्याग्नि में जलता है। वह पांडवों के विराट वैभव को देख नहीं सकता। उनके वैभव को देखकर वह मन ही मन कुढ़ता है और अपने विचार शकुनि के सामने व्यक्त करता है कि मैं अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगा, विष-भक्षण कर लूँगा, जल में डूबकर प्राणों का त्याग कर दूँगा, किन्तु जीवित नहीं रह सकता।[१४८]

सती दयमन्ती नल के रूप और शौर्य पर इतनी मुग्ध हो गई कि उसने नल से स्पष्ट शब्दों में कहा-यदि आप मेरे साथ पाणिग्रहण नहीं करेंगे तो विष, अग्नि, जल या फाँसी द्वारा अपने प्राण समाप्त कर दूँगी।[१४९] अग्नि, जल आदि के द्वारा प्राणों का परित्याग करने वाला आत्महा, आत्महन्, आत्मत्यागी या आत्मघाती कहलाता है।[१५०]

वैदिक साहित्य में आत्मघात का निषेध करने वाले कुछ वचन प्राप्त होते हैं, जिनमें यह बताया गया है कि आत्मघात करने वाला महापापी है। ईशावास्योपनिषद् में[१५१] आत्मघात करने वाले व्यक्ति परभव में कहाँ जाते हैं, उसका चित्रण करते हुए कहा है-जो आत्मघात करते हैं वे मरने के पश्चात् गहन अंधकार में आवृत आसुरी नाम से पुकारी जाने वाली योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तर रामचरित में[१५२] लिखा है कि राजा जनक को सीतापहरण की सूचना मिलने पर उनका हृदय अत्यन्त व्यथित हो जाता है। वे कहते हैं- मेरी वृद्धावस्था आ चुकी है। जिससे मेरा शरीर रस और धातु से नीरस बन चुका है, तथापि यह निंदित शरीर अभी तक नहीं गिर रहा है। ऋषियों ने कहा कि अन्धकारयुक्त सूर्यरहित लोक उनके लिए नियुक्त है जो आत्मघात करते हैं। अतः मुझसे आत्मघात भी किया नहीं जा रहा है। बाल्मीकि रामायण,[१५३] शांकर भाष्य,[१५४] बृहदारण्यकोपनिषद[१५५] और महाभारत[१५६] प्रभृति ग्रन्थों में आत्मघात को अत्यन्त हीन, निम्न एवं निन्द्य माना है। साथ ही जो आत्महत्या करते हैं, उनके संबंध में भी मनुस्मृति,[१५७] याज्ञवल्क्य,[१५८] उषनूस्मृति,[१५९] कूर्मपुराण,[१६०] अग्निपुराण,[१६१] पाराशरस्मृति[१६२] प्रभृति ग्रन्थों में बताया है कि उन्हें जलांजलि नहीं देनी चाहिए। वे आत्मघाती अशौच और उदक क्रिया के पात्र नहीं होते हैं।

एक ओर आत्मघात को निन्द्य माना है, दूसरी ओर विशेष पापों के प्रायश्चित के रूप में आत्मघात का समर्थन भी किया गया है, और उससे आत्मशुद्धि होती है ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। जैसे मनुस्मृति में[१६३] आत्मघाती, मदिरा पायी ब्राह्मण गुरुपत्नीगामी के लिए उग्रशस्त्र, अग्नि आदि के द्वारा आत्मघात करने से शुद्ध होता है-ऐसा विधान है। यात्रवल्क्य स्मृति,[१६४] गौतमस्मृति,[१६५] वशिष्ट स्मृति,[१६६] आपस्तंबीय धर्मसूत्र,[१६७] महाभारत[१६८] आदि में इसी तरह के शुद्धि के उपाय बताए गये हैं। सभी में आत्मघात का विधान है। इन विघ्नों के परिणामस्वरूप ही प्रयाग में अक्षय वट से गंगा में कूदकर और काशी में काशी करवट लेकर आत्मघात की प्रथाएं प्रचलित हुईं। ये स्पष्ट आत्मघात ही थीं, फिर भी इनसे स्वर्ग-प्राप्ति मानी जाती थी। पापी लोग इस प्रकार की मृत्यु का वरण करते थे और यह समझते थे कि इससे उनके पापों का प्रायश्चित् हो जाएगा, वे शुद्ध हो जायेंगे और स्वर्ग के दिव्य सुख भोगेंगे।

इस प्रकार मृत्युवरण को पवित्र और धार्मिक आचरण माना गया है। महाभारत के अनुशासनपर्व,[१६९] वनपर्व[१७०] और मत्स्यपुराण[१७१] में अग्निप्रवेश, जल प्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या अनशन द्वारा देहत्याग करने पर ब्रह्मलोक अथवा मुक्ति प्राप्त होती है, इस प्रकार का स्पष्ट विधान है।

प्रयाग, सरस्वती, काशी आदि जैसे पवित्र तीर्थ स्थलों में आत्मघात करने वाला संसार से मुक्त होता है। इन तीर्थ स्थलों में जल प्रवेश या अन्य विधियों से मृत्यु प्राप्त करने के विधान भी मिलते हैं। महाभारत में स्पष्ट कहा है-वेद वचन से या लोक वचन से प्रयाग में मरने का विचार नहीं त्यागना चाहिए।[१७२] इसी प्रकार कूर्मपुराण,[१७३] पद्मपुराण,[१७४] स्कंदपुराण,[१७५] मत्स्यपुराण,[१७६] ब्रह्मपुराण,[१७७] लिंगपुराण,[१७८] अग्निपुराण[१७९] में स्पष्ट उल्लेख है कि जो तीर्थस्थलों पर जल प्रवेश करता है या अन्य साधनों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा मृत्यु का वरण करता है, भले ही वह किसी भी अवस्था में हो, चाहे स्वस्थ हो, चाहे अवस्थ हो, वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है।

यदि शरीर में असाध्य विहित अनुष्ठान करने में शरीर असमर्थ हो जाए, उस समय वानप्रस्थी के महाप्रस्थान का भी उल्लेख विस्तार के साथ आया है। मनुस्मृति में[१८०] कहा है-असाध्य रोग होने पर वानप्रस्थी ईशान दिशा की ओर मुँह करके योगनिष्ठ होकर पानी और हवा पर रहता हुआ शरीर त्यागने तक निरन्तर गमन करता रहे। याज्ञवल्क्य ने[१८१] भी मनु के कथन का समर्थन करते हुए कहा-वायु भक्षण करता हुआ ईशान दिशा की ओर मुड़कर प्रस्थान करे। महाभारत में[१८२] पांडवों के हिमालय की ओर महाप्रस्थान का वर्णन है। सर्वप्रथम द्रौपदी पृथ्वी पर गिर पड़ी, उसके पश्चात् सहदेव, नकुल, अर्जुन और भीम भूमि पर गिरकर मृत्यु को प्राप्त हुए और सभी स्वर्ग पहुँचे। युधिष्ठिर भी उसी शरीर से स्वर्ग पहुँचे।

डॉ. पांडुरंग वामन काणे ने[१८३] वाल्मीकि रामायण तथा अन्यान्य वैदिक धर्म ग्रन्थों व शिलालेखों के आधार से शरभंग, महाराजा रघु, कलचुरि के राजा गांगेय, चन्देल कुल के राजा गंगदेव, चालुक्य राजा सोमेश्वर प्रभृति के स्वेच्छापूर्वक मृत्यु वरण का उल्लेख किया है।

वानप्रस्थी की तरह गृहस्थ के लिए भी उसी प्रकार का विधान है। जिसके शरीर में व्याधि हो, वृद्धावस्था हो, जो शौचशून्य हो चुका हो वह भी अग्नि-प्रवेश, गिरिपतन या अनशन द्वारा मृत्यु को वरण करे, इस प्रकार का उल्लेख याज्ञवल्क्य स्मृति[१८४] अत्रि स्मृति[१८५] आदि ग्रन्थों में हैं।

वैदिक ग्रन्थों में पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री को पति के शव के साथ अग्नि में प्रवेश हो जाना चाहिए। अंगिरस ने कहा-ब्राह्मण, स्त्री, पति की चिता पर उसके शव के साथ मरण कर सकती है। मिताक्षरी[१८६] टीका में गर्भावस्था आदि विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त पति का अनुगमन करना ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सभी वर्ग की स्त्रियों के लिए आवश्यक माना है। विष्णुपुराण[१८७] के अनुसार रुक्मिणी आदि कृष्ण पत्नियों ने कृष्ण के शव के साथ अग्नि प्रवेश किया। रामायण[१८८] काल में सती प्रथा के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाभारत में सती प्रथा के संबंध में स्पष्ट विचार प्राप्त होते हैं। महाभारत में[१८९] कहा है-यदि पतिव्रता स्त्री पति के पूर्व मर जाए तो वह परलोक में जाकर पति की प्रतीक्षा करे, और पहले पति मर जाए तो पतिंव्रता स्त्री उसका अनुगमन करें।

डॉ. उपेन्द्र ठाकुर[१९०] का मंतव्य है कि सती प्रथा के पीछे धार्मिक भावनाएं अंगड़ाइयां ले रही थीं। हारीत के मन्तव्यानुसार जो स्त्री पति के साथ सती होती है, वह स्त्री तीन परिवारों-माता, पिता और पति के परिवारों को पवित्र करती है।

राजस्थान के राजपूतों में भी पति के पीछे सती होने के साथ ही "जौहर" की प्रथा थी। सती पद्मिनी की कथा और अनेक राजपूतानियों के उत्सर्ग की कथाएँ राजस्थान के इतिहास में भरी पड़ी हैं। स्थान-स्थान पर उनके स्मारक भी बने हुए हैं। राजस्थान तथा दक्षिणी भारत में "कर्नाटक, तमिलनाडु और आंध्र में भी अनेक स्मारक है। कई महासती कल (महासती शिला स्मारक), वीरगल (वीरों के शिला स्मारक), अपने राजा के लिए अपना बलिदान चढ़ाने वाले वीरों के स्मारक हैं। बंगाल में तो उन्नीसवीं सदी तक सती-प्रथा प्रचलित थी। भारत में ही नहीं प्राचीन ग्रीक और मिश्र में भी यह प्रथा प्रचलित थी। यदि स्त्रियां सती होना नहीं चाहतीं तो भी उन्हें बलात् सती होने के लिए बाध्य किया जाता था। चिताओं के आस-पास जोर से वाद्य बजाए जाते जिससे उसका करुण क्रन्दन किसी को भी सुनाई न दे सके।

प्राचीनकाल में यूनान में प्लेटो और अरस्तू ने सती प्रथा का विरोध किया था, आधुनिक काल में भारत में राजा राममोहन राय के विशेष प्रयत्न से तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने सती प्रथा के विरुद्ध कानून बनाकर इसका अन्त कर दिया था। रूस में १७-१८वीं सदी में धार्मिक उद्देश्य से पूरे के पूरे परिवार अपने को जला देते थे। इस प्रथा का भी विज्ञ व्यक्तियों ने अत्यधिक विरोध किया था।

इस्लाम धर्म में स्वैच्छिक मृत्यु का किंचित् मात्र भी समर्थन नहीं है। उनका मानना है-खुदा की अनुमति के बिना निश्चित समय से पूर्व किसी को भी मारना ठीक नहीं है। इसी प्रकार ईसाई धर्म में भी आत्महत्या का विरोध किया गया है। ईसाइयों का मानना है-न तुम्हें दूसरों को मारना है और न स्वयं मरना है।[१९१]

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में एक ओर जहाँ आत्महत्या को महापाप बताया है, वहाँ दूसरी ओर आत्महत्या से स्वर्ग प्राप्त होता है-ऐसा भी स्पष्ट विधान किया गया है। उदाहरणार्थ वशिष्ठ ने कहा-पर्वत से गिरकर प्राण त्याग करने से राज्यलाभ मिलता है तथा अनशन कर प्राण त्यागने से स्वर्ग की उपलब्धि होती है।[१९२] ब्यास ने कहा-जल में डूबकर प्राण त्याग करने वाला सात हजार वर्षों तक, अग्नि में प्रविष्ट होने वाला चौदह हजार वर्ष तक फल प्राप्त करता है, अनशन कर प्राण त्यागने वाले के लिए तो फल प्राप्ति के वर्षों की संख्या की परिगणना नहीं की जा सकती।[१९३] महाभारत के अनुशासनपर्व[१९४] में बताया है-जो आमरण अनशन का व्रत लेता है, उसके लिए सर्वत्र सुख ही सुख है। अनशन से स्वर्ग की उपलब्धि होती है।

समीक्षा :

वैदिक परम्परा में मरण की विविध विधाओं का वर्णन है। उनमें परस्पर विरोधी वचन भी उपलब्ध होते हैं। कहीं पर आत्मघात को निकृष्ट माना गया और उसके लिए वैदिक परम्परा मान्य जो भी

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

धार्मिक अनुष्ठान हैं उनका भी निषेध किया गया, दूसरी ओर आत्मघात की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन भी दिया गया है। जिस प्रकार जैन परम्परा में समाधिमरण का उल्लेख है, कुछ इसी प्रकार का मिलता जुलता वैदिक परम्परा में भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध होता है। पर उस वर्णन की अपेक्षा जल-प्रवेश, अग्नि-प्रवेश, विष भक्षण, गिरिपतन, शस्त्राघात द्वारा मरने के वर्णन अधिक हैं।

इस प्रकार जो मृत्यु का वरण किया जाता है, उसमें मृत्यु इच्छा प्रमुख रहती है, कषाय की भी तीव्रता रहती है। इसलिए भगवान् महावीर ने इस प्रकार के मरण को बालमरण माना और इस प्रकार मरने के लिए आगम साहित्य में स्पष्ट रूप से इनकारी की। भगवान महावीर का मानना था कि इस प्रकार जो मृत्यु का वरण किया जाता है, उसमें समाधि का अभाव रहता है। भगवान् महावीर ने युद्ध में मरने वाले को स्वर्ग प्राप्ति की मान्यता का भी खण्डन किया। उन्होंने अनेक अन्ध विश्वासों पर प्रहार किया।

समाधिमरण : एक मूल्यांकन

जैन धर्म सामान्य स्थिति में चाहे वह स्थिति लौकिक हो, धार्मिक हो या अन्य किसी प्रकार की हो, मरने के लिए अनुमति नहीं देता। किन्तु जब साधक के समक्ष तन और आध्यात्मिक सद्गुण इन दोनों में से किसी एक को ग्रहण करने की स्थिति उत्पन्न हो तो वह देह का परित्याग करके भी आध्यात्मिक सद्गुणों को अपनाता है। जिस प्रकार एक महिला अपने सतीत्व नष्ट होने के प्रसंग पर सर्वप्रथम अपने सतीत्व की रक्षा करती है, भले ही उसे शरीर का परित्याग करना पड़े। उसी प्रकार साधक अपने शरीर का मोह त्यागकर अपने आत्मिक सद्गुणों और संयम की रक्षा करता है। जैन धर्म का स्पष्ट विधान है–जब तक तन की और आध्यात्मिक जीवन की रक्षा होती है तो साधक दोनों की ही रक्षा करें और दोनों की रक्षा करने का वह पूर्ण ध्यान रखें। सामान्य मानव और साधक में यही अन्तर है कि साधारण मनुष्य का ध्यान देह पर केन्द्रित होता है, वह देह के लिए ही सतत् प्रयास करता है, किन्तु साधक देह की अपेक्षा संयम की साधना का अधिक लक्ष्य रखता है, संयम की साधना के लिए ही वह देह का पालन पोषण करता है और जब वह देखता है कि शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो चुकी है, दुष्काल में स्वयं के साथ ही दूसरे व्यक्ति भी परेशान हो रहे हैं तो नैतिकता की सुरक्षा के लिए वह देह-विसर्जन के लिए समाधिमरण को स्वीकार करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता[१९५] में वीर अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा–वह जीवन किस काम का जिसमें आध्यात्मिक सद्गुणों का विनाश होता है। उस जीवन से मरण अच्छा है।

गांधीवादी विचाराधारा के महान् चिन्तक काका कालेलकर का अभिमत है–जब हमें ऐसा अनुभव हो कि जीवन का प्रयोजन समाप्त होने वाला है तो हमें मृत्यु का तिरस्कार न कर, एक आदरणीय अतिथि समझ कर उसका स्वागत करना चाहिए। किन्तु रोते और बिलखते हुए मृत्यु को वरण करना कायरता है। प्रसन्नता के साथ मृत्यु को स्वीकार करना एक नैतिक आदर्श है। महात्मा गाँधी ने भी इस प्रकार की मृत्यु को श्रेष्ठ मृत्यु माना है।

हम पूर्व पृष्ठों में विस्तार के साथ बता चुके हैं कि भारत के तत्वदर्शी महर्षियों ने केवल जीने की कला पर ही प्रकाश नहीं डाला किन्तु उन्होंने इस प्रश्न पर भी गहराई से चिन्तन किया कि किस प्रकार मरना चाहिए। जीवन कला से भी मृत्यु-कला अधिक महत्वपूर्ण है। वह नैतिक जीवन की कसौटी है। जीवन जीना यदि अध्ययनकाल है तो मृत्यु परीक्षाकाल है। जो व्यक्ति परीक्षाकाल में जरा सी भी असावधानी करता है, वह परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है। मृत्यु के समय जिस प्रकार की भावना होगी उसी स्थान पर जीव उत्पन्न होता है। जैन कथा साहित्य में आचार्य स्कन्दक का वर्णन आता है। वे अपने ५०० शिष्यों के साथ दण्डकपुर जाते हैं। वहाँ के राजा दण्डक के द्वारा मृत्यु का उपसर्ग उपस्थित होने पर अपने ५०० शिष्यों को समभाव में स्थिर रहकर प्राण त्यागने की प्रेरणा देते हैं। पर स्वयं समभाव में स्थिर न रह सके जिसके कारण वे अग्निकुमार देव बने। अन्तिम समय की भावना अपना प्रभाव दिखाती है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी जड़ भरत का आख्यान है। उसमें यही बताया है, भरत की हरिण पर आसक्ति रहने से उसे पशुयोनि में जन्म ग्रहण करना पड़ा।

इन सभी अवतरणों से सिद्ध है कि मृत्यु के समय अन्तर्मानस में समभाव रहना चाहिए, और समभाव रहने के लिए ही संलेखना का विधान है। संलेखना और संथारा आध्यात्मिक उत्कर्ष का मूल मंत्र है।

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए संलेखना और संथारे का उल्लेख है। श्रावक द्वादशव्रतों का पालन करने के पश्चात् एकादश प्रतिमाओं को धारण करता है और आयुष्य पूर्ण होने के पूर्व संलेखना करके शांति और स्थिरता से देह त्याग करता है। यदि कोई श्रावक शारीरिक शैथिल्य के कारण प्रतिमाओं को धारण नहीं कर सकता है, तो भी वह अन्तिम समय में संलेखना करता है। संलेखना आत्मा को शुद्ध करने की अन्तिम प्रक्रिया है। यह व्रत नहीं, व्रतान्त है। संलेखना एक प्रकार से प्राणान्त अनशन है। संलेखना निर्दोष साधना है। यदि उसमें भी दोष लग जाए तो उसी समय आलोचना कर चित्त की विशुद्धि करनी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से संलेखना का महत्व स्पष्ट है। यह जीवन भर के व्रत नियम और धर्म-पालन की कसौटी है। जो साधक इस कसौटी पर खरा उतरता है, वह अपने मानव जीवन के लक्ष्य मोक्ष के अधिक समीप पहुँच जाता है, फिर मुक्ति रूपी मंजिल उससे दूर नहीं रहती और वह उसे यथाशीघ्र प्राप्त कर लेता है। ●●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ स्थल

१. सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं। *–दशवैकालिक ६-१०*

२. जीवेम शरदः शतं। *–यजुर्वेद ३६-२४४*

३. ''रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति?''

४. (क) मरण समं नत्थि भयं।

(ख) भयः सीमा मृत्युः।

५. असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं। *–आचारांग १-२*

६. ताले जह बंधणच्चुए एवं आउखयंमि तुट्टइ। *–सूत्रकृतांग २-१-३*

७. नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। *–आचारांग १-४-२*

८. गहिओ सुग्गइ मग्गो नाहं मरणस्स बीहेमि। *–आतुर प्रत्याख्यान ६३*

९. (क) संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीतै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोपि ज्ञान वैराग्यवासिनाम्॥ *–मृत्यु महोत्सव १७*

(ख) संचित तपोधन न नित्यं व्रत नियमे संयमरतानाम्।
उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम्॥ *–वाचक उमास्वाति*

१०. भगवती २-१

११. समवायांग १७ सूत्र ९ (मुनि कन्हैयालाल कमल)

१२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २१२-१३, पत्र-२३०

१३. मरणाणि सत्तरस देसिदाण तित्थंकरेहिं जिणवयणे।
तत्थ वियै पंच इह संगहेणं मरणाणि वोच्छामि।
–मूलाराधना आश्वास १, गा. २५, पत्र ८५

१४. प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपराऽयुर्दलिकोदयात् पूर्वपूर्वाऽयुर्दलिक विच्युतिलक्षणाः। *–अभयदेववृत्ति-भगवती १३,७*

१५. तत्त्वार्थराजवार्तिक २-२२

१६. (क) समवायांग, पत्र ३२

(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१६

(ग) मूलाराधना विजयोदयावृत्ति, पत्र ८७

१७. (क) समवायांग, पत्र ३२

(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१६

१८. (क) समवायांग, पत्र ३२

(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१६

१९. (क) समवायांग, पत्र ३२

(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१७

(ग) भगवती २-१, अभयदेववृत्ति, पत्र २५२

२०. (क) भगवती २-१, अभयदेववृत्ति, पत्र २५२

(ख) समवायांग १७, सूत्र ३२

(ग) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २१९

२१. (क) भगवती २-१

(ख) समवायांग पत्र, ३२-३३

(ग) मूलाराधना विजयोदया टीका, पत्र ८७

२२. (क) समवायांग, पत्र ३३

(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २२२

२३. मूलाराधना विजयोदया टीका, पत्र ८१

२४. (क) समवायांग १७, पत्र ३२

(ख) उत्तराध्ययननिर्युक्ति २२२

२५. उत्तराध्ययननिर्युक्ति २८३

२६. (क) भगवती–२-१, पत्र २५२

(ख) उत्तरा. नि. गा. २२४

२७. (क) भगवती २-१

(ख) उत्तरा. नि. गा. २२४

२८. (क) भगवती २-१

(ख) उत्तरा. नि. गा. २२५

(ग) मूलाराधना गाथा २९, पत्र ११३

(घ) विजयोदया पत्र ११३

२९. (क) मूला. विजयो. पत्र ११३

(ख) सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ।
उच्चारादीणि तथा सयमेव विकिंदि चे विधिणा॥
–मूला. आ. ८, गा. २०४२

३०. (क) भगवती २-१, पत्र २५२

(ख) समवायांग, समवाय १७, पत्र ३३

(ग) उत्तरा. नि. गा. २२५

(घ) औपपातिकवृत्ति पत्र ७१

३१. (क) गोम्मटसार, गाथा ६१

(ख) मू. आ. ८, गा. २०६३

३२. मू. आ. वि. पत्र ११३

३३. विज. ११३

३४. भगवती सूत्र २-१, पत्र २५२

३५. मूला. ८ गा. २०६५

३६. मू. आ. ८, गा. २०६८ से २०७०

३७. उत्तरा. वृ. पृ. ६०२

३८. मू. आ. २ गा. ६५ विज.

३९. उत्तरा. वृ. पृ. ६०२

४०. (क) मूला. आ. २ गा. ६५ विज.

(ख) मू. आ. ७ गा. २०१५ वृत्ति

४१. स्थानांगवृत्ति २-१०२

४२. वही २-१०२

४३. मू. आ. ७ गा. २०१५

४४. मू. आ. ८ गा. २०६९

४५. भगवती सूत्र ९-१, पत्र २५३

४६. पायोपगमण मरणं भत्त पाइण्णं च इंगिणि चेव।
तिविहं पंडिअमरणं साहुस्स जहुत्त जालिस्स॥ *–मूला. २९*

४७. उत्त. अ. ५, ३-४

४८. वही. अ. ५, ३-४

४९. तं मरणं मरियव्वं जेणमओ मुक्कओ होई।
–मरणविभक्ति, प्रकरण १०-१४५

५०. उत्तरा. ५

५१. स्थानांग २, ३, ४

५२. भगवती २-१

५३. उत्तरा. प्राकृत टीका ५

५४. उत्तरा. शान्त्याचार्य टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५५. स्थानांग २

५६. मूला. आ. आश्वास २, गाथा ६५

५७. वही आ. २, गा. ६५

५८. वही आ. ७, गा. २०११

५९. वही आ. ७, गा. २०१३

६०. वही आ. ७ गा. २०१४

६१. वही. आ. ७ गा. २०१५

६२. वही, आ. ७ गा. २०१६

६३. मूला. आ. ७, गा. २०१५

६४. मूला. आ. ७ गा. २०२१

६५. वही. ७ गा. २०२२

६६. औपपातिक वृत्ति पृ. ७१
व्याघातवत्-सिंहादावानलाद्यभिभूतो यत्प्रतिपद्यते।

६७. अन्तकृद्दशांग ३

६८. अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिकरणे प्रयतितव्यम्॥
–समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र ६-२

६९. भगवती आराधना, गाथा १५

७०. "लहिओ सुग्गइ मग्गो नाहं मुच्चस्स बीहेमी।"

७१. "सजनि ! डोले पर हो जा सवार। लेने आ पहुँचे हैं कहार।"

७२. सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
वइयं–अतिहिपुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते॥ *–चारित्र पाहुड, गाथा ६*

७३. संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना।
–स्थानांग २, उ. २ वृत्ति

७४. "कषाय शरीर कृशतायाम्" *–ज्ञाता. १-१ वृत्ति*

७५. आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणम्। *–प्रवचनसारोद्धार १३५*

७६. (क) संलेखनं-द्रव्यतः शरीरस्थभावतः कषायाणांकृशताऽपादनं संलेखसंलेखनेति। *–बृहद्वृत्ति पत्र*
(ख) मूला. ३-०८, मूला. दर्पण पृ. ४२५

७७. सम्यक्कायकषायलेखना *–तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि ७-२२ का भाष्य पृ. ३६३*

७८. सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं।
–तत्त्वार्थ वृत्ति ७-२२ भाष्य, पृ. २४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

७९. बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहायनयाक्रमेण सम्यक्लेखना संलेखना॥२२॥

८०. तत्त्वार्थ सूत्र ७-२२

८१. तत्त्वार्थसर्वार्थसिद्धि ७-२२ पृ. ३६३

८२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७-२२

८३. तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया वृत्ति ७-२२

८४. यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सास्य विश्रान्ति।

८५. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनामाहुः संलेखनामार्याः॥
–समीचीन धर्मशास्त्र, ६-१ मृ. १६०

८६. मूलाराधना २, ७१-७४

८७. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ ११३०

८८. 'Sitting down and abstaining from food thus awaiting the approach of death.

८९. समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः।
दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितो व भवेत्तु यः।
स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः।
आब्रह्माणं वा स्वर्गादिमहाफलजिगीषया।
प्रतिशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा।
एतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु।
नराणामथनारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा॥
–रघुवंश के ८-९४ श्लोक पर मल्लिनाथ टीका

९०. प्रायेण मृत्युनिमित्तक अनशनेन उपवेशः स्थितिसंन्यास पूर्वकानशन स्थितिः। *–शब्द कल्पद्रुम, पृ. ३६४*

९१. "प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि इति विश्वः"। प्रकृष्टभयनम् इति प्रायः, प्र + अय् + घञ्, मर अर्थमनशनम्।
–हलायुधकोश, सूचना प्रकाशन ब्यूरो, उ. प्र.

९२. "प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने।" *–मल्लिनाथ*

९३. रघुवंश १-८

९४. इदानीमकृतार्थनां मर्तव्यं नात्र संशयः।
हरिराजस्य संदेशमकृत्वा कः सुखी भवेत्॥१२॥
असिन्नतीते काले तु सुग्रीवेण कृते स्वयम्।
प्रायोपवेशनं युक्तं सर्वेषां च वनौकसाम्॥१३॥
अप्रवृत्ते च सीतायाः पापमेव करिष्यति।
तस्मात्क्षममिहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम्॥१५॥
अहं वः प्रतिजानामि न गमिष्याम्यहं पुरीम्।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव मे॥
–वाल्मीकि रामायण ४, ५५-१२

९५. (क) प्रायोपवेशः राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः। *–भागवत, स्कंध १२*
(ख) "प्रायोपविष्टं गंगायां परीतं परमर्षिभिः।"
–"प्रायेण मृत्युपर्यन्तानशनेनोपविष्टम् इति तट्टीकायां-श्रीधर स्वामी"
(ग) शब्द कल्पद्रुम पृ. ३६४

९६. श्रीमद्भगवद्गीता ८-१२, ८-१३, ८-५, ८-१० यथा ५-२३

९७. आचारांग १-८-६७

९८. सा जघन्या मध्यमा उत्कृष्टा च। *–व्यवहारभाष्य २०३*

९९. चत्तारि विचित्ताइं विगइ निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोन्नि एगंतरियं च आयाम॥९८२॥
नाइ विगिद्धो य तवो छम्मास परिमिअं च आयामं।
अवरे विय छम्मासे होई विगिट्ठं तवो कम्मं॥९८३॥ *–प्रवचनसारोद्धार*

१००. दुवालसयं वरिसं निरन्तरं हायमाणं उसिणोदराणं आयंबिलं करेइ तं कोडी सहियं भवइ जाणेय विलस्स कोडी कोडीए मिलइ। *–निशीथचूर्णि*

१०१. द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वन् प्रतिदिनमेकैक कवल हान्यातावदूनोदरतां करोति यावदेकं कवलमहारयति। *–प्रवचनसारोद्धारवृत्ति*

१०२. उत्तराध्ययन ३६, २५१-२५५

१०३. द्वितीये वर्ष चतुष्के। 'विचित्रं तु' इति विचित्रमेव चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपं तपश्चरेत्, अथ च पारणके सम्प्रदायः–"उग्गमविसुद्ध" सव्वं कम्मणिज्जं पारेति। *–बृहद्वृत्ति, पत्र ७०६*

१०४. विकृष्टं-अष्टमदशमद्वादशादिकं तपः कर्म भवति।
–प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र २५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०५. पारणके तु परिमितं किंचिदूनोदरता सम्पन्नमाचाम्लं करोति। —*वही पत्र २५४*

१०६. पारणके तु मां शीघ्रमेव मरणं यासिषमितिकृत्वा परिपूर्णघ्राण्या आचाम्लं करोति, न पुनरूनोदरयेति। —*वही. पत्र २५४*

१०७. कोट्यो-अग्रे प्रत्याख्यानाद्यन्तकोणरूपे सहिते-मिलिते यस्मिंस्तत्कोटिसहितं, किं मुक्तं भवति? विवक्षितदिने प्रातराचाम्लं प्रत्याख्यान तच्चाहोरात्रं प्रतिपाल्यं, पुनद्वितीयेऽन्हि आचाम्लमेव प्रत्याचष्टे, ततो द्वितीयस्यारंभ कोटिरादस्य तु पर्यन्त कोटिरूपे अपि मिलिते भवत इति तत्कोटि सहितमुच्यते, अन्येत्वाहुः आचाम्लमेकस्मिन् दिने कृत्वा द्वितीय दिने च तपोदन्तरमनुष्ठाय पुनस्तृतीयदिन आचाम्लमेव कुर्वतः कोटि सहितमुच्यते। —*बृहद्वृत्ति पत्र ७०६*

१०८. "संवत्सरे" वर्षे प्रक्रमाद द्वादशे "मुनिः साधुः" मास, त्ति सूत्रत्वान्मासं भूतो मासिकरतेनैवमार्द्धमासिकेन आहारेणेन्ति–उपलक्षण त्वादाहार त्यागेन, पाठान्तरतश्च क्षणेन तपः इति प्रस्तावाद् भक्त परिज्ञानादिकमनशनं "चरेत"। —*वही पत्र ७०६-७०७*

१०९. निशीथ चूर्णि

११०. (क) मूलाराधना ३, २०८

(ख) मूलाराधना दर्पण पृ. २४५

१११. मूलाराधना ३, २४७

११२. वही. ३, २४९

११३. वही. ३, २५०-२५१

११४. वही. ३, २५२

११५. (क) मूलाराधना ३, २५३

(ख) निर्विकृतिः रसव्यंजनादिवर्जितमव्यतिकीर्णमोदनादिभोजनम्। —*मूलाराधना दर्पण ३, २५४ पृ. ४७५*

११६. मूलाराधना ३-१५४

११७. वही. ३, २५५

११८. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२४-१२८

११९. आचारसार, १०

१२०. द्वादशवार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतद् अन्यदपि षट्कायोपर्द्दरहितं विविक्तं स्थानं गत्वा पादपोपगमनं वा शब्दाद् भक्तपरिज्ञामिंगिनी मरणं च प्रपद्यते। —*प्रवचनसारोद्धार, द्वार १३४*

१२१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १३०

१२२. सागार धर्मामृत ७, ५८ और ८, २७-२८

१२३. भगवती आराधना

१२४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२३

१२५. शांति सोपान, श्लोक ८१

१२६. गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, ५६-५७-५८

१२७. ज्ञातासूत्र, अ. १, सूत्र ४९

१२८. भगवती आराधना गा. ६५०-६७६

१२९. जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नाभिपत्थए।
दुहओ वि न सज्जिज्जा जीविए मरणे तहा॥ —*आचारांग ८-८-४*

१३०. मरणपडियारभूया एसा एवं च ण मरणनिमित्ता जह गंड छे अकिरिआणो आयविरहाणारूपा। —*दर्शन और चिन्तन पृ. ५३६ से उद्धृत*

१३१. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदभावे।
संजम हानिमित्तं देह परिपालणा इच्छा। —*ओघनिर्युक्ति ४७*

१३२. संयुक्त निकाय २१-२-४-५

१३३. (क) संयुक्त निकाय ३४-२-४-४

(ख) History of Suicide in India —***Dr. Upendra Thakur, p. 107***

१३४. अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते।
पूयशोणितसम्पूर्णे अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टि वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते॥ —*पाराशरस्मृति ४-१-२*

१३५. महाभारत, आदिपर्व १७९, २०

१३६. मष्करिभाष्य १४-११ गीतम

१३७. (क) वही. १४-११

(ख) पाराशर ३-१० माधव टीका-ब्रह्मपुराण से उद्धृत।

१३८. वशिष्ठ. २३, १५

१३९. याज्ञवल्क्यस्मृति ३-२०

१४०. अपरार्क द्वारा पृ. ८७७ पर उद्धृत।

१४१. प्रायोऽनाशक शस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छाताम्। —*गौतम धर्मशास्त्र, १४-११*

१४२. प्रायो महाप्रस्थानम् (मष्करि भाष्य)

१४३. (क) अनाशकमभोजनं (मष्करि भाष्य)।

(ख) अनाशकमनशनम्। —*याज्ञ. ३१६ की मिताक्षरा टीका*

१४४. चकारादन्यैरप्यैवं भूतैरात्महननहेतुभिरिति द्रष्टव्यम्। —*मष्करि भाष्य*

१४५. रामायण २, २९, २१

१४६. वही. ३, ४५, ३६-३७

१४७. वही २, ७४, ३३

१४८. महाभारत २, ५७, ३१, ३, ७, ५-६

१४९. वही. ३, ५६, ४

१५०. "काष्ठजललोष्ठपाषाणशस्त्रविषरज्जुभिर्य आत्मानम्" —*वशिष्ठ २३, १५*

१५१. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तामसावृताः।
ता स् ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः॥ —*ईशा. ३*

१५२. उत्तररामचरित, अंक ४, श्लोक ३ के बाद का अंश।

१५३. बाल्मीकि रामायण ८३, ८३

१५४. आत्मनं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः येऽविद्वांस..... अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात्..... प्राकृत विद्वांसो आत्महन उच्यन्ते।

१५५. बृहदारण्कोपनिषद् ४, ४-११

१५६. महाभारत, आदिपर्व १७८-२०

१५७. मनुस्मृति ५, ८९

१५८. याज्ञवल्क्य ३, ६

१५९. उषनृस्मृति ७, २

१६०. कूर्मपुराण, उत्त. २३-७३

१६१. अग्निपुराण १५७-३२

१६२. पाराशर स्मृति ४, ४-७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६३. सुरां पीत्वा द्विजो महोदग्निवर्णा सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्विषात्त त्तः॥
—मनुस्मृति : ११, ९०, ९१, १०३, १०४

१६४. याज्ञवल्क्य स्मृति ३, २४८, ३-२५३

१६५. गौतम स्मृति २३, १

१६६. (क) वशिष्ठ स्मृति २०, १३-१४
(ख) आचार्य पुत्र शिष्य भार्यासु चैवम् *—वशिष्ठ स्मृति १२-१५*

१६७. आपस्तंबीय धर्मसूत्र १९, २५, १-२-३-४-५-६-७

१६८. महाभारत-अनुशासन पर्व, अ. १२

१६९. महाभारत अनुशासन पर्व २५, ६१-६४

१७०. वही. वनपर्व ८५-८३

१७१. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५

१७२. न वेदवचनात् तात! न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयाग मरणं प्रति॥ *—महाभारत, वनपर्व ८५, ८३*

१७३. कूर्मपुराण १, ३६, १४७, १, ३७३, ४

१७४. पद्मपुराण आदिकाण्ड, ४४-३, १-१६-१४, १५

१७५. स्कंदपुराण २२, ७६

१७६. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५

१७७. ब्रह्मपुराण ६८, ७५, १७७, १६-१७, १७७, २५

१७८. लिंगपुराण, ९२, १६८-१६९

१७९. अग्निपुराण १११, १३

१८०. मनुस्मृति ११६, ३१

१८१. याज्ञवल्क्य स्मृति ११३, ५५

१८२. महाभारत-महाप्रस्थानिक पर्व २१८, १२-१८-२३, ३, ५-७ तथा ३, ६-२२-२८

१८३. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. ४८७-डॉ. पा. वा. काणे

१८४. याज्ञवल्क्य स्मृति ३, ६ की अपरार्क टीका से उद्धृत।

१८५. अत्रि स्मृति २१८-२१९

१८६. याज्ञ. १, ८६ की मिताक्षरी टीका

१८७. विष्णुपुराण ५, ३८, २

१८८. रामायण २, ६६, १२; ५, १३, १९, ३०; ७, १७, १५

१८९. प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते।
पूर्व-मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति।
—महाभारत १, ७४, ४६; १, १२५, ३०-३१

१९०. History of Suicide in India.
—Dr. Upendra Thakur. p.p. 107, 110-111

१९१. Thou shalt not kill, neither thyself nor mother.

१९२. भृगुप्रपतनाद्राज्यं नाकपृष्ठनाशकात्।

१९३. यज्ञ. ३, ६ टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत।

१९४. महाभारत—अनुशासन पर्व ७, १८, १-९

१९५. संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादप्यतिरिच्यते। *—गीता. २, ३४*